❑ श्री राम उवाच–8
धर्म सुना तो क्या हुआ ?

❑ प्रवचनकार :
आचार्य श्री रामलालजी म.सा.

❑ प्रवेश : प्रथम संस्करण
3100 प्रतियाँ, जून 2007

❑ मूल्य : 40/–

❑ अर्थ सहयोगी :
श्री रतनलाल मुकेश कुमार रांका, चेन्नई (सारोठ)

❑ प्रकाशक :
श्री अ.भा. साधुमार्गी जैन संघ
समता भवन, रामपुरिया मार्ग, बीकानेर (राज.)
फोन : 0151–2544867, 3292177
फैक्स : 0151–2203150

❑ मुद्रक :
कल्याणी प्रिण्टर्स,
अलख सागर रोड़, बीकानेर (राज.)
फोन : 0151–2526890

❑ श्री राम उवाच–8

धर्म सुना तो क्या हुआ ?

❑ प्रवचनकार :

आचार्य श्री रामलालजी म.सा.

❑ प्रवेश : प्रथम संस्करण

3100 प्रतियाँ, जून 2007

❑ मूल्य : 40/–

❑ अर्थ सहयोगी :

श्री रतनलाल मुकेश कुमार रांका, चेन्नई (सारोठ)

❑ प्रकाशक :

श्री अ.भा. साधुमार्गी जैन संघ

समता भवन, रामपुरिया मार्ग, बीकानेर (राज.)

फोन : 0151–2544867, 3292177

फैक्स : 0151–2203150

❑ मुद्रक :

कल्याणी प्रिण्टर्स,

अलख सागर रोड़, बीकानेर (राज.)

फोन : 0151–2526890

प्रकाशकीय

आचार्य प्रवर श्री रामलालजी म.सा. हुक्मगच्छ के नवम् नक्षत्र एवं परम पूज्य आचार्य प्रवर श्री नानालालजी म.सा. के पट्टधर है। आचार्य श्री नानालालजी म.सा. ने स्वयं अपने कर कमलों से बीकानेर के ऐतिहासिक जूनागढ़ दुर्ग के प्रांगण में चतुर्विध संघ की साक्षी में आपको युवाचार्य पद की 'पछेवड़ी' प्रदान की थी। आपका प्रथम स्वतंत्र चातुर्मास निम्बाहेड़ा की पावन भूमि पर सम्पन्न हुआ था। प्रस्तुत कृति जयपुर चातुर्मास में दिये गये कतिपय मंगल प्रवचनों का सम्पादित संकलन है। इन प्रवचनों का संरक्षण महाश्रमणीरत्ना श्री इन्द्रकंवरजी म.सा. के निर्देशानुसार विदुषी महासतीवर्या श्री सुयशप्रज्ञाजी म.सा. ने किया। सम्पादन हेतु ख्यातनामा शब्द–शिल्पी डॉ. आदर्श सक्सेना का चयन किया गया।

ग्रन्थ–प्रकाशन में हमारे संघ के उदीयमान उत्साही कार्यकर्ता श्री रतनलालजी रॉँका चेन्नई, का अर्थ सहकार–रूप आग्रह रहा। इन सभी श्रद्धेय आत्मीय जनों के भरपूर सहकार से यह भागीरथ कार्य सम्पन्न हो सका। अब श्री राम उवाच का आठवां भाग जिसका शीर्षक धर्म सुना तो क्या हुआ ? आपके हाथों में है। इसका प्रकाशन भी श्री रतनलालजी, मुकेश कुमार जी राकेश कुमार जी रॉँका, चेन्नई के अर्थ सहयोग से करवाया जा रहा है। श्रद्धेय एवम् आत्मीय जनों के प्रशस्त सहकार हेतु मैं अपनी अनेक शुभकामनाएं एवं शुभ भावनाएँ संप्रेषित किए बिना नहीं रह सकता।

सम्पादन में आचार्य प्रवर के मूल भावों को सुरक्षित रखने का पूर्ण प्रयास किया गया है तथापि अज्ञानवश यदि कही कोई त्रुटि रह गई हो तो उसके लिए में ह्रदय से क्षमाप्रार्थी हूँ।

मुझे विश्वास है कि यह संकलन पाठकों को आचार्य प्रवर की अमृत वाणी से लाभान्वित होने का सुअवससर प्रदान करेगा।

मदनलाल कटारिया

संयोजक

साहित्य प्रकाशन समिति

श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ, बीकानेर

अर्थ सहयोगी : एक परिचय

श्री रतनलालजी मुकेशकुमारजी राँका, चेन्नई / सारोठ

स्वनामधन्य श्रेष्ठिवर स्वर्गीय श्री रोड़मलजी सा. राँका तथा उनकी धर्मपत्नी सुश्राविका स्वर्गीय श्रीमती कंचनबाई मूल निवासी सारोठ (ब्यावर के पास) हैं। स्व. श्री मेघराजजी रांका के सुपुत्र श्री रोड़मलजी उदार, सरल, धर्मनिष्ठ, सेवाभावी सुश्रावक थे। आपके पांच पुत्र एवं एक पुत्री हैं। श्री राँकाजी ने अनेक व्रत–प्रत्याख्यान अंगीकार कर रखे थे। नियमपूर्वक 6–6 सामायिक, स्वाध्याय आपकी प्रतिदिन की दिनचर्या में शामिल थे।

आपके ज्येष्ठ पुत्र स्व. श्री बालचन्दजी राँका ने अपना कार्यक्षेत्र दक्षिण में चेन्नई को बनाया। व्यापार में अभिवृद्धि के साथ–साथ आपने धार्मिक, सामाजिक कार्यों में भी अपार यश प्राप्त किया। 'समता भवन,' तण्डियारपेट के निर्माण में आप का मुख्य सहयोग रहा। उनके पुत्र श्री अशोकजी भी उन्हीं के पदचिह्नों पर चल रहे हैं।

आपके द्वितीय पुत्र श्री कन्हैयालालजी राजस्थान में ही रहते हैं। आप सारोठ संघ के अध्यक्ष हैं। तृतीय एवं चतुर्थ पुत्र श्री सम्पतराजजी एवं श्री पारसमलजी एवं पुत्री नवरतनबाई रूणीवाल भी धर्मनिष्ठ एवं सद्संस्कारी है एवं सपरिवार चेन्नई में रहते हैं।

आपके पाँचवे पुत्र श्री रतनलालजी राँका अत्यन्त मिलनसार, मृदुभाषी, सुहृदय, उदारमना, सेवाभावी युवारत्न है। आपका धार्मिक–सामाजिक कार्यक्षेत्र विस्तृत है। आपने श्री साधुमार्गी जैन संघ, तण्डियारपेट के पूर्व अध्यक्ष के रूप में समता भवन एवं उसकी गतिविधियों में काफी प्रशंसनीय कार्य किया। आप पूर्व में श्री साधुमार्गी जैन संघ चेन्नई के मानद् मंत्री रह चुके है साथ ही साथ आप श्री अ. भा.सा. जैन संघ, बीकानेर के राष्ट्रीय उपाध्यक्ष व राष्ट्रीय मंत्री पद को सुशोभित कर चुके है एवं वर्तमान में आप श्री साधुमार्गी जैन संघ चैन्नई के अध्यक्ष के रूप में अपनी सेवाएं प्रदान कर रहे हैं एवं भगवान महावीर अहिंसा प्रचार संघ, चेन्नई के आप न केवल उपाध्यक्ष है बल्कि

एक कर्मठ कार्यकर्ता भी है। स्थानीय एवं वाहर की अनेक संस्थाओं से आप जुड़े हुए हैं एवं उनमें आपका महत्त्वपूर्ण सहयोग रहता है। 'आर. आर. ट्रैडिग कॉर्पोरेशन (प्लास्टिक) आपका व्यापारिक प्रतिष्ठान है। आप केवल व्यापार तथा धनोपार्जन में नहीं, अपितु पारमार्थिक कार्यों में भी पूर्णरूपेण सक्रिय हैं। 'सादा जीवन, उच्च विचार' के आप जीवंत प्रतीक है। धार्मिक क्रियाओं के साथ–साथ आप मानव सेवा के प्रति भी उदात भावना रखते है और इसी भावना को साकार रूप प्रदान करते हुए आपने अपने पूज्य माताजी पिताजी की पुण्य स्मृति में सारोठ में श्रीमती कंचन देवी रोड़मलजी रांका चिकित्सालय का भी निर्माण करवाया है।

आपकी धर्मपत्नी श्रीमती सन्तोषवाई धार्मिक प्रवृत्ति, संत–सती सेवा एवं आतिथ्य–सत्कार में सदैव अग्रणी रहती है एवं अपने पति को धार्मिक कार्यों में सदा सहयोग देती रहती है। सचमुच में यह कहावत यहाँ शत–प्रतिशत चरितार्थ होती है कि 'हर सफल आदमी के पीछे एक महिला का हाथ रहता है।' आपके दो सुपुत्र–श्री मुकेशकुमार, श्री राकेशकुमार भी अपने पिता के पद्चिह्नों पर चल रहे हैं। आपकी पुत्रवधु सौ. दीपा व आरती भी धार्मिक प्रवृति से ओतप्रोत है। आपके दो सुपौत्र श्री ऋषभ, श्री आदेश व एक सुपौत्री महक है।

आपका परिवार एक धर्मनिष्ठ परिवार है। आदर्शत्यागी, पंडितरत्न, शासन प्रभावक श्री धर्मेशमुनिजी म.सा. एवं आदर्शत्यागिनी विदुषी साध्वी श्री जयश्रीजी म.सा. आपके संसारपक्षीय बहनोई व बहन है।

आपका परिवार स्व. आचार्य श्री नानेश एवं वर्तमान आचार्य श्री रामेश के प्रति अनन्य आस्थावान एवं पूर्णरूपेण समर्पित है। आपने श्री अ.भा. साधुमार्गी जैन संघ को वर्तमान आचार्य प्रवर श्री रामलालजी म.सा. के प्रवचनों एवं सद्साहित्य को प्रकाशित करने एवं जनसाधारण तक पहुँचाने के लिए अपनी सहमति प्रदान की है, इसके लिए संघ आपका आभरी है। हमें अत्यन्त प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है कि अब तक श्री राम उवाच के सात भाग निकल चुके है और आठवां भाग आपके हाथों में हैं। सुज्ञ पाठक अधिक से अधिक इसका लाभ उठायेंगे, इसी आशा और विश्वास के साथ.....

केशरीचंद सेठिया, चैन्नई

अनुक्रम

एक कर्मठ कार्यकर्ता भी है। स्थानीय एवं बाहर की अनेक संस्थाओं से आप जुड़े हुए हैं एवं उनमें आपका महत्त्वपूर्ण सहयोग रहता है। 'आर. आर. ट्रैडिग कॉर्पोरेशन (प्लास्टिक) आपका व्यापारिक प्रतिष्ठान है। आप केवल व्यापार तथा धनोपार्जन में नहीं, अपितु पारमार्थिक कार्यों में भी पूर्णरूपेण सक्रिय हैं। 'सादा जीवन, उच्च विचार' के आप जीवंत प्रतीक है। धार्मिक क्रियाओं के साथ–साथ आप मानव सेवा के प्रति भी उदात भावना रखते है और इसी भावना को साकार रूप प्रदान करते हुए आपने अपने पूज्य माताजी पिताजी की पुण्य स्मृति में सारोठ में श्रीमती कंचन देवी रोड़मलजी रांका चिकित्सालय का भी निर्माण करवाया है।

आपकी धर्मपत्नी श्रीमती सन्तोषबाई धार्मिक प्रवृत्ति, संत–सती सेवा एवं आतिथ्य–सत्कार में सदैव अग्रणी रहती है एवं अपने पति को धार्मिक कार्यों में सदा सहयोग देती रहती है। सचमुच में यह कहावत यहाँ शत–प्रतिशत चरितार्थ होती है कि 'हर सफल आदमी के पीछे एक महिला का हाथ रहता है।' आपके दो सुपुत्र–श्री मुकेशकुमार, श्री राकेशकुमार भी अपने पिता के पद्चिह्नों पर चल रहे हैं। आपकी पुत्रवधु सौ. दीपा व आरती भी धार्मिक प्रवृति से ओतप्रोत है। आपके दो सुपौत्र श्री ऋषभ, श्री आदेश व एक सुपौत्री महक है।

आपका परिवार एक धर्मनिष्ठ परिवार है। आदर्शत्यागी, पंडितरत्न, शासन प्रभावक श्री धर्मेशमुनिजी म.सा. एवं आदर्शत्यागिनी विदुषी साध्वी श्री जयश्रीजी म.सा. आपके संसारपक्षीय बहनोई व बहन हैं।

आपका परिवार स्व. आचार्य श्री नानेश एवं वर्तमान आचार्य श्री रामेश के प्रति अनन्य आस्थावान एवं पूर्णरूपेण समर्पित है। आपने श्री अ.भा. साधुमार्गी जैन संघ को वर्तमान आचार्य प्रवर श्री रामलालजी म.सा. के प्रवचनों एवं सद्साहित्य को प्रकाशित करने एवं जनसाधारण तक पहुँचाने के लिए अपनी सहमति प्रदान की है, इसके लिए संघ आपका आभरी है। हमें अत्यन्त प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है कि अब तक श्री राम उवाच के सात भाग निकल चुके है और आठवां भाग आपके हाथों में हैं। सुज्ञ पाठक अधिक से अधिक इसका लाभ उठायेंगे, इसी आशा और विश्वास के साथ.....

केशरीचंद सेठिया, चैन्नई

अनुक्रम

सच्ची धर्म–समर्पणा की प्रकृति

सुमति चरण कज–आत्म अर्पणा........।

तीर्थंकर देवों के चरणों में आत्मा की समर्पणा है, यह एक पंक्ति में हम बोल तो देते हैं, पर क्या एक जीवन में भी हम समर्पणा कर पाते हैं ? बोलना तो एक पंक्ति में हो जाता है कि सुमतिनाथ भगवान के चरणों में आत्मा की समर्पणा है किन्तु एक नहीं अनेक जिन्दगियाँ खप जाती हैं पर हमारी समर्पणा नहीं हो पाती है । जब हम देखते हैं विभीषण को कि वे राम के चरणों में आये और समर्पित हो गये। ऐसी एक नहीं, अनेक घटनाएँ देखते हैं तब फिर हमारा समर्पण क्यों नहीं हो पाता ? कई दिनों से चर्चा चल रही है–"धम्मसद्धाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?" भगवन् धर्म श्रद्धा से जीव को क्या लाभ होता है ? उत्तर मिला–

साया सोक्खेसु रज्जमाणे विरज्जई।

अगारधम्मं च णं चयइ, अणगारिए णं जीवे......।

जीव साता सुखों में अनुरक्त रहता हुआ उनसे विरक्त हो जाता है। उसके आगे बताया–अगार धर्म छोड़कर अणगार बन जाता है। प्रश्न होता है क्या फ़र्क पड़ता है अगार से अणगार बन जाने से ? अणगार बनने का तात्पर्य पोशाक परिवर्तन से नहीं है। तात्पर्य है शारीरिक और मानसिक छेदन–भेदन संबंधी दुःखों का अन्त करना है। ऐसी स्थिति में कोई अणगार का छेदन–भेदन कर रहा है तो भी दुःख नहीं होता। ज़ैसा कि कहा है–

कुल्हाड़ी से कोई काटे, कोई आ फूल बरसाये.......।

खुशी से दे दुआ इक–सी, अजब सारे चलन ही हैं।

कोई कुल्हाड़ी से काटे या कोई फूल बरसाये, दोनों में एक समान रहे–कथन कितना सरल है ! वस्तुतः बात कहने में सरल है पर कुल्ह

से काटना तो दूर, यदि मुँह से भी ऐसी बात कह दें कि कुल्हाड़ी से काट दूं तो न जाने कैसी गाँठ बंध जाये। किन्तु कहा गया है कि अणगार को गाँठ नहीं बाँधनी चाहिए। वैसे तो श्रावक के लिए भी कहा है–एक वर्ष में गाँठ नहीं खोलता है तो श्रावक जीवन तो क्या, सम्यक्त्व भाव भी सुरक्षित रहना कठिन है। श्रावक के लिए चातुर्मासिक प्रतिक्रमण में गाँठ खोल ही लेनी चाहिए और साधु के लिए तो आज के आज ही, मुँह में अमी उतारने के पहले। पहले तो यह हो की जीवन में गाँठ बाँधे ही नहीं। यदि कदाचित् बंध गई हो तो गोचरी जाने से पूर्व गाँठ को उच्छेद करे। यदि तब भी वैसा हुआ हो, तो अमी को गले से नीचे उतारने से पूर्व उस गाँठ को खोल लें कदाचित् उस समय वैसा नहीं बन सके तो गोचरी लाने के बाद करे, यदि वह भी समय टल गया, छद्मस्थ है तो संध्या प्रतिक्रमण के समय स्वयं को निर्मल बना ले और यदि वहां भी रह जावे कि मैं क्यों करूं क्षमायाचना ऐसा भी हो सकता है, तो कहा है पक्खी का दिन नहीं निकलना चाहिए अन्यथा अणगार जीवन सुरक्षित नहीं रहेगा। इसलिए कहा है कि अगारी से अणगार बनने वाला शारीरिक छेदन–भेदन आदि व मानसिक अवस्था में होने वाले दुःख का अंत करने वाला होता है। कैसे होता है उसकी प्रक्रिया क्या है, इसे समझें।

एक व्यक्ति को मलेरिया होता है, तो उसमें इतनी धूजनी छूटती है कि चाहे जेठ का महीना हो और एक दो रजाई ओढ़ा दें तो भी धूजनी मिटती नहीं। यदि कुनैन शरीर में चली गयी और मलेरिया के जर्म्स पर उसने अधिकार कर लिया तो मलेरिया के जर्म्स का शरीर पर प्रभाव क्षीण हो जाता है और 'धूजनी' चली जाती है। वैसे ही साता–सुख में साता वेदनीय में हमारी जब तक आसक्ति है तब तक सुख और दुःख आने पर हम हिलते हैं, धूजते हैं, मन में उतार–चढ़ाव की स्थिति बनती है। किन्तु यदि साता में, सुख में आसक्त नहीं हैं, बल्कि अपने–आप में ममत्व भाव का छेदन हो गया है, ममत्व बुद्धि नहीं रही है तो उससे होने वाला दुःख भी दूर हो जाता है। पर जब तक ममत्व बुद्धि बनी रहती है, धर्म के प्रति प्रगाढ़ श्रद्धा नहीं होती तब तक व्यक्ति कहता है यह मकान मेरा है, कैसा आलीशान बना है, ऐसी अभिव्यक्ति होती है, किन्तु यदि धर्म के प्रति श्रद्धा हो जायेगी तो लगेगा कि यह है क्या ? यह पुद्‌गलों का ही तो स्वरुप है। चाहे बंगला है या कोई भी पदार्थ सारे 'पर' हैं। ये सारे के सारे सड़न–गलन–विध्वंसन गुण वाले हैं। ये पदार्थ सदा स्थाई रहने वाले नहीं है। जिस दिन यह ज्ञान हो जाता है उस दिन उसकी सोच बनती है कि ऐसे सड़ने–गलने वाले

पदार्थों के प्रति यदि मैं ममत्व रखूं तो यह मेरी समझदारी नहीं है श्लेष्म।इस शरीर में उत्पन्न होता है और नाक में सरसराता है। नाक भरती है तो व्यक्ति उसे भरकर रखता नहीं, निकाल कर फेंक देता है, फिर उसे देखना भी पसन्द नहीं करता। जैसे यह त्याज्य पदार्थ है वैसे ही पुद्गलों के प्रति लगाव भी त्याज्य है। जिसने जान लिया कि ये पुद्गल कभी मुझे चैन नहीं लेने देगें फिर भी मैं ऐसी चीज़ों–पदार्थों से यदि काया को सजाता हूँ तो ठगा ही जाऊंगा वैसे ही जैसे इस काया से एक नहीं अनेक जन्मों में ठगा गया हूँ और ठगा–ठगा कर खाया गया हूँ–

'ठगोरी काया, तूं म्हनैं ठग–ठग खाया....।' ऐसा विचार आता है क्या? तपस्वी आत्मा को तपस्वी आत्मा मिले तो उस ओर रुझान होता है। स्वधर्मी के प्रति वात्सल्य, स्वाभाविक है। स्वधर्मी मिले तो रोम–रोम पुलकित होता है। तपस्वी का स्वधर्मी तपस्वी है क्योंकि समान धर्म वाला है। वह मि़ले तो पुलकित होता है, वैसे ही चेतना को चेतना का धर्म मिले तो वह पुलकित होती है परन्तु चेतना को चेतन का नहीं, पुद्गल का धर्म मिले तो वह पुलकित नहीं होती। भले ही ऊपर से काया को सजाए, संवारे, कुछ भी करे।

रामायण का प्रसंग है। महाराजाधिराज दशरथ ने कैकेय देश की राजकुमारी कैकेयी के साथ विवाह किया। महाराज ढलती उम्र में थे और कैकेयी चढ़ती उम्र में थी। एक ढ़लती और एक चढती उम्र हो तो दोनों का संबंध कैसे जुड़े ? यद्यपि कैकेयी भी दशरथ के प्रति समर्पित थी किन्तु दशरथ उसके सामने झेंपते थे। उसके मान–सम्मान के लिए तैयार रहते थे। किन्तु अंतर में प्रेम का जो प्रस्फुटन होना चाहिए था , वह नहीं हो पाता था। एक–दूसरे को गणित की दृष्टि से देखते थे। गणित की दृष्टि से सम्बन्ध होना एक बात है किन्तु प्रेम का प्रस्फुटन दूसरी बात है। आपने प्रश्न पूछा, मैंने उत्तर दिया तो लगेगा अच्छा है। यह गणित का संबंध है पर अंतर में जो प्रेम का सम्बन्ध जुड़ना चाहिए वह कोई गणित नहीं है जहाँ व्यक्ति संबंधों में एक–दूसरे का हिसाब देखता है, वहां प्रेम नहीं हो सकता। क्योंकि गणित करने में लगा होता है। पड़ोसी–पड़ोसी का, सेठ–मुनीम, का प्रबंधक–मालिक का भी गणित का संबंध हो सकता है किन्तु धर्म गणित का, खेल नहीं है। इसलिए यहां श्रद्धान कहा है। वह अंतर में प्रकट होता है। वह यह नहीं देखता कि यह कैसा है। लैला और मजनूँ की कथा शायद आप जानते हैं। यह मेरा विषय नहीं हैं किन्तु बात स्पष्ट करने के लिए बता रहा हूँ। कहा जाता है कि लैला इतनी सुन्दर नहीं थी पर मजनूँ उसके पीछे

दीवाना था सम्राट ने कहा–छोड़ दे, इससे वढ़कर बहुत मिलेंगी। परन्तु उसने कहा– जो बात लैला में है वह दूसरी में नहीं हो सकती यह है प्रेम। ऐसा होता है धर्म के प्रति अनुराग, ऐसी होती है प्रेम की नजर। वहाँ गणित का, लाभ–हानि का सिद्धान्त नहीं लगाया जा सकता। यदि गणित के सिद्धान्त लगाते हैं तो यह सच्चा प्रेम नहीं मन का बहलावा है। इसीलिए कहा गया है–धर्मश्रद्धा से जीवा साता वेदनीय से प्राप्त विषय से विरक्त होता है। हम विषय से विरक्त हो रहे हैं या नहीं ? पहले देखो हमारे में गणित का हिसाब है या अंतर में प्रेम प्रस्फुटित हुआ है। यदि प्रेम का प्रस्फुटन नहीं है तो हिसाब लगाएंगे वहां अनुभूति नहीं होगी। अनुभूति होती है हृदय में, देखिये अपना हृदय, वहां कुछ अनुभूति होती है या नहीं ? विश्वास मस्तिष्क में चलता है पर श्रद्धा दिमाग में नहीं, हृदय में पैदा होती है। इसलिये यदि हृदय धर्म से जुड़ता है तो फिर देखिये वहां क्या बदलाव नहीं आ सकता।

समुद्रपाल एक अपराधी को दंड़ित होते देख रहा था। देखा कि उसे गधे पर बिठाया गया, जूते की माला पहनाई गई। उन्होंने जानकारी की कि यह सब क्या है तब जो कुछ ज्ञात हुआ उससे तत्काल आत्मा में जागरण उत्पन्न हुआ। हमें भी कई बार लगता है कि ठगोरी काया हमें ठग–ठग कर खा रही है तब तपस्या करने का विचार आता है। कल उपवास करूं। तब क्या होता है ? उपवास–तेले के लिए कितनी बार गणित का हिसाब करना पड़ता है ? मासखमण में कितनी बार गणित का हिसाब लगाना पड़ता है ? मेरी तपस्या में अंतराय नहीं आ जाये क्या यह भाव भी आता है ? ये कौनसा गणित का हिसाब है ? जब गणित का हिसाब होता है तब हम काया को क्या मान लेते, इस पर विचार किया क्या कभी ?

काया करोड़पति नी डीकरी रे.........।

करोड़पति की बेटी को घर लायें तो कैसे रखना पड़ता है ? सासूजी यह नहीं कह सकतीं–बहू जी, जरा चाय–नाश्ता बना दो। भय लगता है कि वह कह देगी अपने बाप के घर हाथ से गिलास इधर से उधर नहीं रखा यहाँ चाय–नाश्ता बनाऊं ! नौकरानी रख लीजिये। आपको वेतन चुकाना नहीं पड़ेगा, मैं पीहर से भर–पाई करा दूंगी। यह भी हो सकता है कि वह कह दे–आज नई–नई हूँ, कह दिया तो बना देती हूँ, पर कल से मेरे से मत कहना। जैसे करोड़पति की लड़की को लाकर उसके नखरे उठाने पड़ते हैं, उसके आदेशों का पालन करना होता है वैसे ही यह शरीर करोड़पति की डीकरी है। क्या है करोड़पति की डीकरी ? इसे कहां से लाये ?

बहुपुण्य केरा पुंज थी, शुभ देह मानव नो मल्यो.....।

बहुत सारे पुण्य के पुंज से इस काया को लेकर आए हैं इसलिए यह करोड़पति की डीकरी है। जैसे पुराने समय में लड़कियों के लिए पैसे चुकाने पड़ते थे वैसे ही इस काया के लिए बहुत सारा पुण्य का स्कंध चुकाना पड़ा है, तब ये प्राप्त हुई है और व्यक्ति सोचता है, इतने पैसे खर्च करके प्राप्त हुई है तो खूब पिलाऊँ, खिलाऊँ, सहलाऊँ। फिर क्या हो जायेगा ? साथ निभायेगी ? कितना ही खिला दीजिये, पिला दीजिये। मेरे खयाल से खिलाने–पिलाने में कोई कमी नहीं रखी होगी। डॉक्टर ने कहा होगा तो खूब आँवला–तेल की मालिश भी सिर में की होगी। फिर बाल सफेद कैसे हो गये ? क्या कोई प्रयत्न नहीं किया ? खूब किया। और आज भी लगातार बताना चाहेंगे कि बाल काले के काले रहें। हम कहां चाहते हैं कि लोग देखें बुढ़ापा आ गया। हम तो रोज भरी जवानी देखना चाहते हैं। कितना ही मन बहला लीजिये किन्तु जब बुढ़ापा आयेगा, कितनी ही दवाई करें, धौलों को काला रंगें, पर कोई युक्ति काम नहीं आयेगी। हम मौत से बहुत बचाव करना चाहते हैं पर जब मौत का वारंट आता है तो उससे बच पाना अशक्य है। व्यक्ति कोर्ट में खड़ा होना नहीं चाहता। कभी कहीं से तो कभी कहीं से बचाव करना चाहता है। वैसे ही मौत के वारंट से हम बचाव करते हैं। यदि आँख में कमजोरी आती है–तो हम बचाव करने के लिए डॉक्टर के पास पहुँच कर लैंस लगवा लेते हैं और मौत से हँस कर कहते हैं तूने रोशनी मंद की पर मेरे हाथ कितने लम्बे हैं, हमला निष्फल करवा दिया। मैने लेंस लगवा लिये। रोशनी वैसी की वैसी है। मौत ने दाँत ढीले किये पर आपके दिल में कोई कमजोरी नहीं आई। बड़ा बुलन्द दिल है। कहा–मौत ! तुम मेरे साथ क्या खेल–खेलोगी ? मेरे हाथ बहुत लम्बे हैं, करोड़ों की पूंजी है। तुमने दाँत ढीले किये तो, डॉक्टर के पास जाकर नई बत्तीसी मंढ़वा ली। आजा, अब कितने खेल दिखाती है। मौत भी सोचने लगी, किस के पाले पड़ी। घुटनों ने काम करना बंद किया तो कहा–आर्टिफिशियल घुटने लगा लिये। कहा– पांव कटाने भी पड़ें तो गाड़ी लेकर काम चला लूंगा। मेरी गाड़ी नहीं रुकेगी। हार्ट की धड़कन बढ़ी तो हार्ट बदलवा दिया। मौत के एक नहीं अनेक वारों से बच जायेंगे किन्तु जब मौत सिर पर आकर खड़ी हो जायेगी, तब आपकी एक नहीं चलेगी। चाहे पूरे घर का पैसा पानी की तरह बहा दो किन्तु कोई उपाय सफल नहीं होगा। आपके वश में नहीं कि अरबों–खरबों बहा कर एक मिनट की जीवन का भी दान ले सकें। आप चाहें कि मौत मुझे एक मिनट भी मो[illegible]

पर वह मिलने वाली नहीं। मौत पहले सावधान करती है फिर भी जब आप सावधान नहीं होते तब वह समय क्रूर लगता है। किन्तु जो जाग जाता है, जो धर्म–श्रद्धा में रुचि बना लेता है, वह शरीर–धर्म को जान लेता है वह जान लेता है कि यह सड़न–गलन–विध्वंसन गुण वाला हैं। करकण्डू को क्या हुआ था ? साँड़ को भरी जवानी में देखा तो कहा–इसकी पूरी सुरक्षा करो और कालान्तर में जब उसे देखा, तो उस रूप में कि वह मक्खियाँ भी नहीं उड़ा पा रहा था। कौवे शरीर में टोचे मार रहे थे पर पूंछ में जान नहीं थी कौवों को भी उड़ा सके। पूरी–भरी जवानी में जब पूंछ उठती थी तो आस–पास के पौधे गिर जाया करते थे पर आज तो मक्खी उड़ाना भी संभव नहीं रहा था। कई भाई आँख में पानी डालते हैं–क्या करें अब शरीर काम नहीं देता। भाई ! अब क्या होगा ? जिस समय जवानी का जोश था तब संतों ने समझाया था कि यह जवानी की रौनक रहने वाली नहीं है, यह तो फानी होती है। उस समय समझ जाते, संभल जाते तो समय हाथ में रहता, अब आज आँसू निकालने पड़ रहे हैं। अब कितना ही परमात्मा को पुकार लो, वह नहीं आयेगा। अब हाथ काम नहीं करते, पांव धूजते हैं।

नहीं प्रभु से प्यार, फिर क्या पाएगा।
रोना है बेकार, छूट सब जायेगा।
तेरी श्याम सलोनी काया, जिसको तूने नहलाया।
मन गमता भोज जिमाया, और सुंदर साज सजाया,
साथ क्या जायेगा रोना है बेकार छूट सब जायेगा।

बंधुओं ! जग जाओ। अभी भी समय है। आप चाहते हो कि ऐसा रोना हमारी जिन्दगी में नहीं आये तो भगवान् ने बहुत मार्ग बताये हैं उनका अनुसरण करो। रोग आ जाये तो आहार छोड़ दो। पर हमारे यहाँ रोग आयेगा तो डॉक्टर आयेगा। भूख नहीं लगती, तो भूख की दवा लेंगे। अरे भला ! क्या हो गया ? कर लो तेला–पचोला। भूख भीतर होगी तो अपने आप लगेगी, भीतर नहीं है तो कितनी भी दवाई करते चले जाइये कुछ नहीं होगा तब कहोगे डॉ. साहब ! दवाई कीतनी लेता हूँ, पर भूख नहीं लगती। अरे! दवाई पर दवाई खा रहा है तो भूख लगेगी कैसे ? जठराग्नि तेज नहीं और डाइजेशन ठीक करने की दवाई नहीं ली तो भूख लगेगी कैसे ? करो तपस्या, फिर देखो भूख क्या होती है। अरे पारणे के बाद देख लेना क्या स्थिति बनती है पर हिम्मत नहीं होती। सोचेंगे शरीर कमजोर हो जायेगा। पर धर्मश्रद्धा मजबूत हो तो सोचेंगे कि शरीर तो छूटना ही है फिर इससे ...नी ममता क्यों ?

जे ना चाले संघाते, तेनी ममता शा माटे....।

शरीर से ममता करते हैं तो ममता दूर होनी नहीं है, यह बढ़ती जायेगी और समता दूर होती जायेगी क्योंकि इसका यदि लाड़ लड़ाने में लगे तो जितनी ममता पास आयेगी उतनी समता दूर होगी। एक बार प्रयोग करके देखिये, ज्यादा दिन नहीं, एक सप्ताह तक यह करके देखो कि शरीर पर ममता कितनी है ? शरीर पर ममता नहीं है तो समता–क्षमता जग सकती है। समता को जगाने वाले, इसके पॉवर का उपयोग करने वाले, ममता की ओट नहीं लेते।

ममता मार कर लोग मासखमण तक कर लेते हैं और दुबले–पतले दुर्बल दिखने वाले लोग कठोर व्रत स्वीकार कर लेते हैं। मन में दृढ़ता हो, सच्ची धर्मश्रद्धा हो तो कुछ भी कठिन नहीं रहता। वस्तुतः तपस्या आत्मा के लिये करते हैं पुद्‌गलों को बढ़ाने के लिए नहीं। धर्मश्रद्धा जब हमारे भीतर आती है तब वह गणित के हिसाब में मस्तिष्क को नहीं ले जाती। वह यदि हृदय में जगे, तो फिर कैसी भी परिस्थिति हो, कुल्हाड़ी से भी कोई मारे तो भी वहां दुःख होगा नहीं।

महासती सीता के लिए राम ने कहा–रावण के यहाँ रहीं, परीक्षा देनी होगी और अग्नि परीक्षा की बात आई। आज ऐसी बात आ जाय तो–अरे ! मैं तो पति के नाम पर रावण के यहां बैठी रही, पर पति को इतना भी विश्वास नहीं तो ऐसे के यहां कैसे रहना ? जहां स्वार्थ की स्थिति होती है वहां उसके आधार पर विचार करते हैं। कोई सोचे इतना धर्म किया, पर वह धर्म किस काम का जब मेरा अमुदक कार्म पूर्ण नहीं हुआ, और धर्म से श्रद्धा हट जायेगी। ऐसी घटनाएँ घटती हैं। एक माँजी ने कहा–मेरे पोता–पड़पोता हो जाय; किन्तु हुआ नहीं तो माँजी सोचने लगीं ऐसे धर्म से कोई फायदा नहीं। माँजी ने धर्म छोड़ दिया। एक बार संत आये। संतो के आने पर वह बहिन हमेशा उपस्थित होती थी, उस दिन वह नहीं आई तो संत ने पूछ लिया कि अमुक बहिन को देखा नहीं। वह तो आती रहती है। तब बताया गया कि वह आजकल मिथ्यात्विनी हो गई है। उसे धर्म नहीं सुहाता। संत ने सोचा, देखें तो सही क्या हाल है ? संत गये गोचरी और पूछ लिया क्या बात है बाईजी ? महाराज आये पर आप दिखे नहीं ? तब उसने कहा कांई कहूं महाराज कोई सुने तो कहूँ, कहूँ और कुछ न मिले तो क्या फायदा ? संत ने कहा–यहाँ तो ज्यादा बात नहीं हो सकती, स्थानक पर दया पाल सको तो बात अलग है। अकेली बहिन से बोलना नहीं था अतः एक भाई के साथ आई। बोली–महाराज, मैं दो–तीन सामायिक रोज

करती थी ,पचरंगी में हमेशा आगे रहती थी, धर्म बहुत किया। किन्तु इतना धर्म करने के बाद मुझे मिला क्या ? एक पोता भी तो नहीं मिला ! तो ऐसे धर्म से क्या लाभ ? पोता मिले तो धर्म करना ! महाराज ने बात सुन ली। फिर पूछा—मॉजी तुम्हारे घर में संपत्ति कितनी हैं ? मॉजी ने कहा—पार नहीं है। संत ने पूछा—और पडोसी के पास ? मॉजी ने उत्तर दिया—उसके पास तो नहीं है, सारे दिन मेहनत करके मुश्किल से गुजारा करते हैं। संत ने कहा—तो तुम्हें इतना भरकर धर्म ने खोटा काम कर दिया ? मॉजी ने कहा—नहीं महाराज ! ये तो धर्म का प्रताप है। संत ने पूछा—लड़का कैसा है ? उत्तर मिला—वह तो बहुत आज्ञाकारी है, इतनी सेवा करता है। संत ने पूछा—और पुत्रवधू ? उत्तर मिला—अरे ! वह तो इतनी भागवान हैं क्या बताऊं, इतनी सेवा करती है कि बस ! संत ने कहा—ओहो ! धर्म ने तो बहुत गलत काम कर दिया ! यदि घर में रोज नरकवाड़ा, रोज झगड़ा हो तो ठीक रहता क्या ? पर घर में शांति है, पुत्र कहने में हैं ये तो धर्म का प्रताप मानती हो ? ये सब वस्तुएं धर्म से मिलीं तब तो धर्म खराब नहीं लेकिन सिर्फ पोता नहीं मिला तो धर्म बेकार है ? इतनी चीजें मिल गईं तो विचार नहीं आया कि धर्म अच्छा है ? मांजी की समझ में बात आ गई। महाराज ! 'इतो तो मं सोचियोइ कोनी'। घर में इतनी शांति है। यह तो मैंने विचार ही नहीं किया।

कुछ ऐसे भी व्यक्ति होते हैं कि महाराज पूछे नहीं तो क्या जायें ? पूछे तब तो बार बार दौडे जाएं। नाम क्या है, व्यापार कैसा चल रहा है, कोई मंत्र बता दें तो बार बार आजायं ! यह धर्मश्रद्धा नहीं है। श्रद्धा हो तो लाभ मिलेगा। ये मन की बातें हैं यदि बुद्धि केवल गणित का हिसाब लगायेगी कि धर्मश्रद्धा का लाभ मिले, तो नहीं मिलेगा। श्रद्धा नहीं है, हिसाब है तो उससे जो मिलना है वह कैसे मिल जायेगा ?

समझने की बात यह है कि श्रद्धा वैसे ही असरकारिणी होती है। यह एकांगी होती है अर्थात् एक पक्ष से होती है। उसमें न तर्क की गुंजाइश होती है, न संदेह की। ऐसी श्रद्धा फलदायिनी होती है। कहा गया है—'श्रद्धावान् लभते ज्ञानं, विश्वासो फलदायकः।' श्रद्धावान को ज्ञान मिलता है और विश्वास फल देने वाला होता है। यह मनोवैज्ञानिक सत्य भी है। एकलव्य से संबंधित आख्यान से आप परिचित हैं। गुरु के धनुर्विद्या का ज्ञान प्रदान करने से इंकार करने पर उसने उनकी भक्ति व आस्था के सहारे [illegible] धनुर्विद्या में [illegible] प्राप्त कर ली थी। इसी प्रकार विश्वास [illegible] और मनुष्य को लगे कि सामान्य कोई

ने काटा है तो वह नहीं मरता परन्तु सामान्य कीड़ा काटे और सर्पदंश का विश्वास हो जाय तो व्यक्ति मर जाता है। धर्म के साथ जुड़ कर तो श्रद्धा और विश्वास दोनों अमोघ फल देने वाले बन जाते हैं। इसीलिए उत्तराध्यन सूत्र में धर्मश्रद्धा के फल के बारे में कहा गया है कि धर्मश्रद्धा से जीव सातावेदनीय कर्मजनित वैषियक सुखों की आसक्ति से विरक्त हो जाता है, अगार धर्म का त्याग करता है और अनगार होकर जीव छेदन–भेदन आदि शारीरिक तथा संयोग आदि मानसिक सुखों की विच्छेद कर डालता है और अव्याबाध सुखों को प्राप्त करता है। सुदृढ़ एवं निश्चल निर्मल श्रद्धा की दुर्लभता बताने के लिए निर्युक्तिकार ने सप्त निह्नवों की कथा भी दी है।

दुःख और यातना से मुक्त होने के जिन चार दुर्लभ अवसरों की चर्चा की जाती है उनमें धर्मश्रद्धा को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। सत्य तो यह है कि श्रद्धा उस हर मनोबल का पाथेय है जो मनुष्य को अध्यवसायी बना कर उसे एकाग्रचित्त होकर पुरुषार्थ करने की प्रेरणा और शक्ति देता है। यह दुर्लभ क्षमता मानव–जीवन में परम पुण्योदय से ही प्राप्त होती है। इसीलिये मनुष्य जीवन की दुर्लभता बताते हुए भगवन् महावीर ने कहा–'दुल्लहे खलु माणुसे भवे'।

इसलिये यदि परम पुण्योदय से मानव–भव मिला है जो दृढ़ धर्मश्रद्धा का मार्ग अपना कर पुरुषार्थ करें और इस प्रकार मोक्ष प्राप्त करने के अवसर का सदुपयोग कर मानव–भव को सार्थक करें। हम ऐसा कर सकें, ऐसी सद्बुद्धि हमें मिले और तदनुकूल पुरुषार्थ करने की क्षमता हम विकसित कर पायें, सुमतिनाथ भगवान् के चरणों में आत्मा का अर्पण कर ऐसी सद्बुद्धि हमें प्राप्त हो।
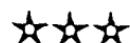
8.8.2000

धर्म–साधना और उपयुक्त परिवेश

सुमति चरण कज आत्म अर्पणा.......।

साधना का मार्ग निहायत कहा जाता है अकेले का । राष्ट्रकवि श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर की भी एक प्रसिद्ध कविता है–'एकला चालो रे !' तीर्थंकर देव प्रभु महावीर ने भी कहा है– 'एगओ चर' अकेला चल। और उत्तराध्यन सूत्र में प्रसंग है कि गुरु और स्वधर्मी की सेवा–शुश्रूषा करने से किस फल की प्राप्ति होती है ? गुरु, स्वधर्मी शुश्रूषा इन शब्दों से अनेकता का बोध होता है। एक से अधिक होने पर ही गुरु–शिष्य स्वधर्मी आदि का भेद हो सकता है फिर एगओ चर का तात्पर्य ? इस संदर्भ में हम गुरु स्वधर्मी और एगओ चर की चर्चा कर लें यह उपयुक्त है।

स्वधर्मी के कई अर्थ हो सकते हैं यथा–स्वधर्मी, सहधर्मी, आदि–आदि। सहधर्मी के भी अलग–अलग अर्थ ले सकते हैं। सहधर्मी का एक अर्थ है–जो साथ में धर्म करने वाला है। कौनसा कर रहा है, क्या कर रहा है, इससे मतलब नहीं है। मैं भी धर्म कर रहा हूं, साथ वाला भी कर रहा है। मैं भी पढ़ रहा हूं, वह भी पढ़ रहा है दोनों सहपाठी साथ में पुस्तक लेकर पढ़ रहे हैं भले अलग–अलग पढ़ रहे हों पर सहपाठी हैं। वैसे ही साथ में धर्म करने वाला सहधर्मी है। दूसरा अर्थ है कि जो धर्म में सहयोग दे रहा है, वह भी सहधर्मी है। धर्मपत्नी को भी सहधर्मिणी कहा जाता है। वह धर्मपालन में सहायता करती है। मुझ से नहीं हो सकता है, पर आप करिये या मैं नहीं करता पर मैं मना भी नहीं करता हूँ, ऐसे भाव रखने वाला भी सहधर्मी है क्योंकि उसने धर्म करने में सहकार/सहयोग किया है। जिसका सहयोग होता है वह भी एक दृष्टि से सहधर्मी माना गया है। वैसे ही साधु–साधु आपस मे स्वधर्मी भी होते हैं और सहधर्मी भी।

जरूरी नहीं कि सभी साधु एक ही अथवा समान धर्म का पालन करें। हो सकता है एक के. अध्यवसाय में उतार–चढ़ाव हो रहा हो; एक निर्मल चरित्र का पालन कर रहा हो; एक अन्तर गुण में दोष लगा रहा हो; एक के अध्यवसाय असंख्य गुणहीन हों और दूसरे के अधिक। अनंत गुण–हीनाधिकता भी संभव है। इसके बावजूद वे स्वधर्मी कहलाते हैं क्योंकि उनका धर्म समान है। तब प्रश्न होता है कि एक तरफ कहा 'अकेला चल'– 'एगओ चर' फिर बात कही सहधर्मी की। क्या वस्तुतः धर्म साधना में, कोई सहयोगी हो सकता हैं नहीं ? क्या किसी के सहयोग को चाहते हुए चलें, तो सफल हो जायेंगे ? स्वयं का उपादान यदि नहीं है तो निमित्त कितना भी मिले, आत्मा निर्मल नहीं हो सकती है। तीर्थंकर देवों के शासन में इस बात को स्पष्ट रूप से कहा गया है–उपादान निहायत अपना होता है पर उपादान फलने के लिये निमित्त की आवश्यकता होती है। एक गेहूं का दाना पाटे पर रखा है। वर्षों पड़ा रहे तो भी अंकुरण नहीं हो पाएगा। किन्तु उपयुक्त मिट्टी का संयोग और पानी का सिंचन मिले तो वह पौधे का रूप लेकर अनेक गेहूँ पैदा कर सकता है। इसलिए कहा–निमित्त की आवश्यकता होती है। ये बात अलग है कि निमित्त कब, कैसे, कहाँ मिलता है। इसका कोई निश्चय भी नहीं है। एक व्यक्ति कहाँ जन्म लेता है और उसकी कहाँ मृत्यु होती है, इसका कोई निश्चय नहीं।

कृष्ण कहाँ जन्मे, कहाँ उनका पालन हुआ कहाँ राज्य संचालन की अवस्था बनी और मृत्यु के समय वे कहा पहुँच गये ? ऐसा क्यों हुआ ? इसलिये कि उपादान फलने के लिए निमित्त की आवश्यकता थी; वह कहाँ मिल सकता था ? वैसे ही साधक के लिए निमित्त की आवश्यकता होती है इसलिए साधना पथ पर चलने वाले साधक के लिये कहा गया है कि–गुरु की, स्वधर्मी की आवश्यकता होती है।

एक व्यक्ति धर्म की आराधना कर सकता है, किन्तु वह संघ का रूप नहीं कहला सकता। चने की एक पौधा चने का खेत नहीं कहला सकता किन्तु जहां बहुत–सारे चने के पौधे हों तो उस स्थान को खेत कहा जाता है। वैसे ही जहाँ अनेक स्वधर्मी एक साथ आराधना करते हैं, उसे संघ कहा जाता है। इसलिए तीर्थंकर देवों ने यह अनुभव किया कि धर्म अपने–आप में, एकाकी है, पर साथ में सहयोगी हों तो मार्ग जल्दी तय होता है। तय जल्दी नहीं होता, किलोमीटर तो उतने ही पार होते हैं, पर मार्ग तय करने में अब नहीं लगती, न चलना बोझ लगता है। किन्तु एक व्यक्ति अकेला चलता है और दूसरा एक–दो के साथ चलता है। किस व्यक्ति को

मार्ग जल्दी तय होना तय लगेगा ? दो लोग साथ चलें तो भले 10 कि.मी. चलें, पर पता नहीं चलेगा। एक व्यक्ति 4 घंटे अकेला बैठता है तो समय लम्बा लगता है और वही साथ बैठ कर तत्व चर्चा चले तो समय कितना बीत गया, पता ही नहीं चलता। समय उतना ही लगता है, किन्तु हम इतने व्यस्त रहते हैं कि समय का ज्ञान ही नहीं रहता। हम चलने में मशगूल होते हैं तो लगता ही नहीं कि 10 कि.मी. चल गये। वैसे ही "स्थविर कल्पी साधना" में जवान वृद्ध, बालक सभी होते हैं, वे समुह–रूप में चलते हैं। बालक चलता है तो उसे भी थकावट नहीं आती और वृद्ध को भी नहीं लगता कि वह निहायता अकेला हैं। वे सभी बिना थके मार्ग तय कर लेते हैं। इसलिए तीर्थंकर देवों ने गुरु की + स्वधर्मी की आवश्यकता बताई और कल्प मर्यादा में बता दिया–साधु दो से कम न हों व साध्वियाँ तीन से कम न हों, यदि कम हों तो कल्प नहीं होता। और मर्यादा यहाँ तक बता दी कि साधु, एक दूसरे की निगाह में रहें। शयन कर रहा है तो एक तीसरी मंजिल पर और एक पहली मंजिल पर ऐसा नहीं। एक–दूसरे की निगाह में रहें। क्यों आवश्यकता बताई ? इसलिये कि हम अनादिकाल से जिन विकारों से ग्रस्त रहे हैं, कहीं पुनः हम पर वे हावी न हो जायें। एक–दूसरे की निगाह में रहेंगे तो एक–दूसरे को सावधान करते रहेंगे। इसलिए स्वधर्मी की आवश्यकता है और इसीलिये उसे स्वीकार किया गया है। पर स्वधर्मी कैसा हो–सहायमिच्छे णिउणत्थ बुद्धिं अर्थात् 'निपुण' अर्थ बुद्धि वालें हो। निपुण यानी जिसकी बुद्धि आगम ज्ञान से परिपूर्ण हो, अपवाद–उत्सर्ग की व्याख्या जानने वाला हो, और कितने समय में कितने अपवाद का सेवन करना यह भी जानता हो। ये नहीं कि थोड़ी ऊँची–नीची स्थितियां आई और हम गाँढागाँढी अपवाद का सेवन कर लें। इसीलिए कहा–निपुण अर्थ बुद्धि क्योंकि एक अर्थ में अनर्थ और एक अनर्थ में भी अर्थ उपस्थित कर सकता है। ज्योतिर्धर जवाहराचार्य ने अपने जीवन का एक संस्मरण उपस्थित किया था। जव वे गृहस्थावस्था में थे तब इनके मामाजी को भंग का शौक था, वे भंग सेवन करते थे। वालक जवाहर से कहा भंग की पत्तियां ले आ। वे सूत कर प्रभूत्ते पत्तियां ले आये। मामाजी ने कहा इतनी थोडी ही चाहिये थीं, इन्हें वोध मिला। कभी–कभी अनावश्यक रूप से अनर्थ हो जाता है। यदि बालक जवाहर को जानकारी होती तो अनर्थ की स्थिति नहीं बनती। अधिक वनस्पति का आरंभ, इस रूप में अनर्थदंड अनर्थ का कारण वना। एक अर्थ हिंसा होती है एक अनर्थ हिंसा होती है।

आनन्द श्रावक के पास 40,000 पशु थे। उनको पानी पिलाने में

कितना ही पानी खर्च होता, हो चारे की कितनी ही व्यवस्था करनी हो पर उसे अनर्थदंड–अनर्थ किया, नहीं कहा है। वह अपने–आप में अर्थ क्रिया है। परन्तु यदि एक व्यक्ति एक लोटा जल लेकर आधा पीए और आधा ढोल दे, तो वह अनर्थ क्रिया होगी। इसीलिए जवाहराचार्य व्याख्यानों में संकेत करते थे कि जिसे कोई जानकारी नहीं, उससे यदि सहयोग लेंगे अनर्थ हिंसा का प्रसंग उपस्थित हो सकता है। आज घरों की स्थिति देखें, श्रावक समाज को देखें–अर्थ हिंसा कितनी हो रही है, और अनर्थ हिंसा कितनी हो रही है। तो आश्चर्य होगा। कई काम ऐसे हैं जिन्हें हम कर सकते हैं परन्तु नहीं करते क्योंकि पोज़ीशन की बात आ जाती है। हम करोड़पति घर की सेठानी हैं, हम क्यों बर्तन माँजें ? तब बर्तन माँजने का और रसोई का काम कौन करेगा? सेवक करेंगे। रसोई बनाने वाले भोजन बनाएंगे। खा–पीकर हम बर्तन छोड़ देंगें बर्तन पड़े रहेंगे। रात भर उनमें जीवाणु पैदा होंगे। कितने ही मरेंगे भी। सुबह नौकरानी आयेगी तो साफ करेगी। और एक दिन नौकरानी को बुखार आ जाय या वह लेट आये तो कितना भारी लगता है ? अब आवे, अब आवे और नहीं आवे तो आक्रोश–रोष आयेगा कि अभी तक क्यों नहीं आई। वह दवा खाकर एक घंटे के बाद आये तो कितनी करुणा या दया के भाव रहते हैं? तब इस प्रकार के बोल निकलते हैं 'तबीयत ठीक नहीं है तो रहने दे। काम नहीं करना है तो रहने दे। हम दूसरी आया ले आयेंगे।' बेचारी सुनती है। वह नौकरानी काम तो करती है पर हिंसा–अहिंसा का कितना विवेक रख पाती है ? उसके भाव जीवों की रक्षा में कितने तत्पर रह पाते हैं ? मैंने सुना है पहले जवाहराचार्य के समय पौषधशाला में झाडू नहीं लगते थे, पौषधशाला को पूंजते थे। और अब इतना परिवर्तन कर दिया ? अब धर्मस्थानों में झाडू लगने लगे हैं सामायिक पौषध आदि में पूंजने का पाठ आया है, झाड़ने का नहीं। जितना धर्म–ध्यान किया है वह झाड़े से उतार दो। जैसे जहर झाड़ते हैं वैसे ही धर्म झाड़ेंगे ! पहले पूंजने का काम होता था, इसलिए शब्द कैसा दिया है ? झाड़ने का नहीं, पूंजने प्रमार्जन का पाठ है।

कृष्ण वासुदेव तीन खंड के अधिपति हो गये पर जब पौषध करने गये तो ये नहीं कहा–भाई ! कल मुझे पौषध करना है इसलिए सफाई कर देना। आज बड़े–बड़े धर्मस्थान बनेंगे पर सफाई कौन करेगा ? और करने वालों में जीव दया का भाव कितना होता है ? कितना आरंभ होता है और उसका संबंध किससे जुड़ता है ? एक तरफ तो कहा कि घर से निकलें धर्म–अनुष्ठान के लिये तो निस्सही–निस्सही–निस्सही का प्रयोग करें। फिर

धर्मस्थान में प्रवेश करते हुए निस्सही शब्द का तीन बार प्रयोग करें। क्यों कहा है ? घर से निकल रहा हूँ तो मैं संसार के कार्य से निवृत्त हो रहा हूं और चलकर आने में जो कुछ क्रिया हुई है, किसी जीव को जो कष्ट हुआ है तो उन सारी क्रियाओं से मैं अपने आपको निवृत्त करता हूँ अर्थात् उनके प्रति भी भावना है कि यदि उनकी विराधना हुई हो तो मैं उससे निवृत्त होता हूं। क्यों होना चाहिए निवृत्त ? क्या कारण है ? हमें कहाँ फुर्सत है ? जो हम सोचें ? हमने कभी सोचा भी नहीं होगा कि यदि किसी प्राणी को सताया तो उसकी हाय लगेगी।

गरीब को मत सता, गरीब रो देगा और उसकी जो आह निकलेगी वह जड़मूल से नष्ट कर देगी। जब एक गरीब की आह व्यक्ति के लिए कष्टदायी बन सकती है तो किसी प्राणी को यदि पीड़ा पहुँची है तो क्या वह हमें साधना में सही तरीके से बैठने देगी ? वह कैसे धर्म करने देगी ? आप बैठेंगे किन्तु नीचे से काँटे चुभने लगेंगे क्योंकि जिसको पीड़ा दी है, उससे आप निवृत्त नहीं हो पाये हैं। जब तक ये क्रियाएँ जुड़ी हैं तब तक उनका हिसाब आपके साथ चलता रहेगा, यह भली प्रकार से समझ लीजिये।

आपने बिजली का स्वीच ऑन कर दिया, कनेक्शन ले रखा है तो बिजली का मीटर चलेगा या नहीं ? टी.वी ऑन कर दिया आप रसोई में हैं, कोई देख नहीं रहा है पर मीटर तो चलेगा। वैसे ही हमने यदि गमनागमन की क्रिया का प्रतिक्रमण नहीं किया है, उनसे अपने को अलग नहीं किया है, जिन जीवों को पीड़ा पहुँचाई है, भले हमने जान–बूझ कर नहीं पहुँचाई है, अनजाने में पीड़ा पहुँची है पर उससे स्वयं को अलग नहीं किया है तो संबंध तो जुड़ा हुआ है, मीटर चल रहा है। इसलिए यहाँ बैठ कर भले मुँहपत्ति बाँध भी ली पर चित्त शांत नहीं हो पायेगा, तो धर्म–आराधना भी नहीं हो पाएगी। इसलिए कहा गया है–निस्सही का प्रयोग हो, किन्तु तोता –रटन की तरह नहीं, उसका अर्थ भी ज्ञात हो, उस प्रकार की भावना प्रस्फुटित हो। इस प्रकार भावों से युक्त होकर संसार व्यापार से स्वयं को निवृत्त करें। फिर इच्छाकारेणं के द्वारा उन क्रियाओं से लगे दोषों को समाप्त कर दें। भावना यह हो कि इस प्रकार मैं जिस धर्म प्रज्ञप्ति में, जिस रूप में आराधना कर रहा हूं उसमें कोई विघ्न न आ पाये। एक तरफ इतनी तैयारी चलती है और दूसरी तरफ जिस स्थान में धर्म–आराधना करें नहीं पर बहुत से जीवों का उपमर्दन हो, प्राण लूटे जा रहे हों तो क्या उसका प्रभाव नहीं पड़ेगा ? एक जगह निरन्तर हिंसा हो रही हो वहां बैठे तो उनकी चीत्कार सुनाई पड़ेगी। यदि आपने महात्मा गांधी की जीवनी पढ़ी हो तो

पढ़ा होगा कि एक बार भूल से उन्हें बकरे का मांस खिला दिया गया। रात्रि में सोये तो पेट में बकरे की आवाज आती रही। वे आराम से सो नहीं सके। हम जिस स्थान पर धर्म करने बैठते हैं वहाँ यदि बहुतों की हिंसा हुई है तो वहाँ दिल शांत नहीं रह पायेगा। आप स्वयं प्रयोग करिये। जिस स्थान का स्वयं पूंजना पलेवण करके आप धर्म–आराधना करोंगे तो आपको शांति मिलेगी। साधु के लिए स्पष्ट कहा गया है कि जिस कमरे में वह रहता है वहां का कचरा वह स्वयं निकाले यदि गृहस्थ निकालने लगे तो मना करे। यह भी नहीं कि किसी साधु को कहकर निकलवा लें। किन्तु जो गीतार्थ होता है, उत्सर्ग–अपवाद का जानकार है उसे कचरा निकालना कल्पता है। जिसे उत्सर्ग अपवाद की जानकारी नहीं है, वह साधु यदि बड़ा है, तब भी उसे कमरे का काजिया लेने का निषेध किया गया है। कितनी बारीक कितनी महत्त्वपूर्ण बात है। हम साधना कर रहे हैं, पर जब घट में दया नहीं है छोटे प्राणियों के प्रति वे मर रहे है तो मरते रहें ऐसी वृत्ति यदि रही तो धर्म–आराधना नहीं हो पायेगी। धर्म–क्षेत्र में जिन–जिन का सहयोग मिल रहा है उनमें से प्रत्येक से उसका संबंध जुड़ता है और जब प्रत्येक प्राणी के अपलाप की भावना नहीं होती तब भी धर्म–आराधना हो पाती है। धर्मरुचि अणगार कडुवा तुम्बा ले आये। गुरु की आज्ञा थी निरवद्य स्थान में परठना। एक टोपा डाल कर कितनी कीड़ियाँ आ गई ? ओहो ! कितनी आरम्भ ! उन्होंने देखा ये वैसी भूमि नहीं है। एक बूंद में कितनी आत्माओं को कितना कष्ट पहुंचा मैंने कितने कर्म बांध लिये ! गुरु ने कहा है–उचित भूमि पर परठना। सोचा, मेरी देह शुष्क हो गई है, कितने दिन चलनी है ! सारा जहर हलक में उतार लिया। यह होती है दया।

दया धारण करेंगे तो आनंद आयेगा। हम धर्म करणी करते चले जाते हैं, पर कभी सोचा–द्रव्य, क्षेत्र, काल की शुद्धि कितनी है ? उनकी शुद्धि नहीं है और सोचे भावशुद्धि बन जायेगी। ये असंभव नहीं तो कठिन अवश्य है। कभी भावशुद्धि भी बन सकती है। पर सामान्यतः ये चारों शुद्धियाँ आवश्यक हैं। यह बोध निपुण अर्थ बुद्धि वाले सहायक से प्राप्त हो सकता है। इसलिए बताया गया है कि स्वधर्मी कैसा हो, और उसके प्रति कैसा सहयोग होना चाहिए। स्वधर्मी व सहधर्मी में क्या अन्तर है ? जब तक हम इसे न समझें तो हम धर्म–आराधना किस रूप में कर पाएंगे। व्यावहारिक स्थिति में भी द्रव्य–क्षेत्र–काल व भाव की शुद्धि का ध्यान न रहे तो उसे ठीक नहीं माना गया है। इसलिये इन चारों के बीच जो परस्पर संबंध है उसे भी समझें।

द्रव्य का अर्थ संदर्भ के अनुसार लिया जाता है यद्यपि शाब्दिक अर्थ पदार्थ या वस्तु भी है, यदि इसे ही चिन्तन में ले तो पदार्थ की शुद्धता की बात स्वतः ही समझ में आ जाती है। काल का शुद्ध या शुभ होना तो सदैव ही अपेक्षित है। यदि काल शुभ नहीं हो तो बनता हुआ काम भी बिगड़ जाता है। इसीलिये कहा जाता है–

पुरुष बली नहिं होत है, समय होत बलवान।
भिल्लन लूटीं गोपिका, वो ही अर्जुन वो ही बाण।

बड़ी बातें और बड़ी घटनाएँ छोड़ भी दें तो भी दैनंदिन कार्यों में भी समय की शुद्धता की बात अवश्य देखी जाती है।

'क्षेत्र' शब्द का उपयोग व्यापक अर्थ में होता है। घर के एक कोने से लेकर स्थान, परिवेश तथा भौतिक प्रकृति, सभी इसके अंतर्गत आ जाते हैं। मोटे तौर पर क्षेत्र का अर्थ स्थान भी लें तो भी स्थान के शुद्ध–अशुद्ध अथवा शुभ–अशुभ होने की बात सभी स्वीकार करते हैं। धर्मस्थानकप्रांगण तथा मरघट–शमशान, दोनों स्थानों की प्रकृति और प्रभाव की भिन्नता से हम परिचित हैं। धर्मस्थान में वातावरण ही ऐसा होता है कि उसमें प्रवेश करते ही भावना और विचार स्वतः ही पवित्र हो जाते हैं जबकि श्मशान में दुःख व शोक के भाव मन में उत्पन्न होने लगते हैं। क्षेत्र की शुद्धि–अशुद्धि की वात अन्य दृष्टियों से भी उत्पन्न होती है। कुछ भौगोलिक–प्राकृतिक क्षेत्र विशिष्ट कारणों से अशुभ, अशुद्ध अथवा बुरे हो जाते हैं जिनके कारण कई वार हमें ज्ञात नहीं होते परन्तु हम जानते और मानते हैं कि अमुक क्षेत्र वर्जित हैं। इससे संवंधित एक दृष्टांत आपके सम्मुख प्रस्तुत कर रहा हूँ।

कहते हैं मातृ–पितृ भक्त बालक श्रवणकुमार अपने वृद्ध माता–पिता को उनकी आज्ञा की परिपालना में काँवड़ में बैठा कर तीर्थयात्रा हेतु ले जा रहा था। जव वह कान्यकुब्ज नगर की परिधि में पहुँचा तो उसकी मति पलट गई। उसने काँवड़ नीचे रख दी और स्पष्ट यह दिया कि वह अपने जीवन को उस प्रकार वरबाद नहीं कर सकता था, वैसे भी वह उन बूढ़ों का वोझ कंधों पर क्यों ढोता रहे ? वेचारे वृद्ध माता–पिता उसकी भावनाओं में अचानक आया यह परिवर्तन देख कर स्तब्ध रह गये। परन्तु तभी उन्हें कुछ ध्यान आया। उन्होंने पूछा–"वत्स, हम कौनसे प्रदेश में है ?" उत्तर मिला–"कान्यकुब्ज में।" उत्तर सुनकर कारण समझ पाना उनके लिये कठिन नहीं रहा। उन्होंने आग्रहपूर्वक कहा–"हमें इस कान्यकुब्ज क्षेत्र के वाहर तक पहुँचा दो, उसके वाद तुम स्वतंत्र हो जाओगे। तुम्हारे ऊपर हमें ढोने का कोई दायित्व नहीं रहेगा। तुमने हमारे ऊपर इतने उपकार किये हैं,

तो इस क्षेत्र से बाहर निकाल देने की दया भी हमारे ऊपर कर दो।" श्रवण कुमार को प्रार्थना पसंद तो नहीं आई परन्तु बेमन से वह उतना और काम कर देने के लिये तेयार हो गया। काँवड़ में माता–पिता को बैठा कर वह आगे चला। जैसे ही कान्यकुब्ज जनपद की सीमा से वे बाहर हुए कि श्रवण कुमार को मति तुरंत पलट गई। वह पुनः पहले वाला मातृ–पितृ भक्त श्रवण कुमार बन गया। उसने अत्यंत विनयपूर्वक उनसे क्षमा माँगी और आगे के तीर्थाटन के कार्यक्रम को जारी रखने की बात कही। जब उसने मति पलटने का कारण पूछा तब उसके माता–पिता ने बताया कि वैसा उस क्षेत्र के प्रभाव के कारण हुआ था। यह होती है क्षेत्र की शुद्धि और उसकी अनुकूलता–प्रतिकूलता की बात।

जब ये तीनों–द्रव्य, काल और क्षेत्र शुद्ध होते हैं तो भावना के शुद्ध हो जाने की बात स्वतः ही बन जाती है। साधना में शुद्ध भावना की बात तो होती ही है, शुद्ध वातावरण और शुद्ध सहयोग की बात भी उससे जुड़ जाती है। अथवा सहधर्मी का साथ ऐसे सहयोग की स्थितियाँ बनना है। जब इनकी शुद्धता सुनिश्चित हो जाती है तब साधना का वह मार्ग प्रशस्त हो जाता है जो फलप्राप्ति की दिशा में ले जाता है। तब दया, प्रेम, अहिंसा, सद्भाव और समभाव इस मार्ग पर चलने में स्वतः ही सहयोगी बन जाते हैं। ऐसी स्थितियाँ बनें और धर्माराधना सही रूप में संभव हो, यह आवश्यक है। सुमतिनाथ भगवान् के चरणों में आत्म–अर्पणा कर हम अपनी मति को सुमतिमय करें, जिससे ऐसी सफल साधना का मार्ग सुनिश्चित हो सके जो हमें मोक्ष के लक्ष्य तक ले जा सके, हमारी ऐसी सुमति बने।

10.8.2000

द्रव्य–क्षेत्र–काल–भावशुद्धि की आवश्यकता

सुमति चरण कज आत्म अर्पणा........।

सुमतिनाथ भगवान् के चरणों में समर्पणा की भावना इस प्रार्थना के माध्यम से हम व्यक्त करते हैं। परन्तु जिन भगवान् के प्रति यह प्रार्थना है उनके शुभ नाम के भाव पर भी विचार करें। 'सु' उपसर्ग है जिसका अर्थ होता है सुन्दर, अच्छा, अतिशय आदि। 'मति' का अर्थ है बुद्धि। इस प्रकार 'सुमति' का भाव हुआ 'सन्मति' अथवा 'सद्बुद्धि'। स्वस्थ, सुखी, सम्पन्न और सफल जीवन बिता सकने के लिये सुमति आवश्यक है क्योंकि यदि मति ही भ्रष्ट रही तो सुख–शांति के किसी भी साधन की प्राप्ति संभव नहीं है। सफल एवं शुद्ध धर्म–ध्यान–आराधना भी बिना सुमति हुए संभव नहीं और यदि ऐसा नहीं होता है तो यह मानव–भव तो व्यर्थ जायेगा ही अगले भवों की स्थितियाँ भी अनिश्चित हो जायेंगी। अतः यह अपेक्षित है कि वैसी स्थितियों के कारणों की विवेचना करें जिससे उनसे बचाव के उपाय किये जा सकें। हम बात प्रारंभ करते हैं जीवन के सामान्य अनुभवों से। पानी पीने से यदि प्यास नहीं बुझे तो दोष पानी का है। भोजन करने से यदि भूख नहीं मिटे तो दोष आहार का है, ऐसा कभी–कभी मान लिया जाता है परन्तु जरूरी नहीं कि यह सही हो क्योंकि यदि इसी प्रकार यदि हैजे की बीमारी हो गई है और पानी पी रहे हैं तो भी प्यास बुझती नहीं। इसी प्रकार यदि भस्मक रोग हो जाता है तो कितना ही अन्न खा लिया जावे, किन्तु भूख शान्त नहीं होती। दुःख विपाक सूत्र में मृगालोढ़ा की कथा आती है। थाली –कटोरी भरे आहार से उसका काम नहीं चलता। महारानी एक गाड़ी भरकर आहार ले जाती हैं, और जैसे ही सामने रखती हैं वह कई दिनों के भूखे श्वान जैसा लपकता है और देखते ही देखते सारा आहार निगल जाता

है किन्तु फिर भी भूख शांत नहीं होती तब वह उसी का वमन करके उसे फिर खाने की कोशिश करता है। यह अन्न का दोष नहीं है, पानी का दोष नहीं है, दोष है भीतर रही बीमारी का। वैसे ही धर्मक्रिया या अनुष्ठान करने के बाद भी यदि शांति–संतोष नहीं मिलता है तो वह धर्म करणी निम्नस्तरीय नहीं है बल्कि हमारी बीमारी ऐसी है कि वह उसे निगल जाती है। सर्प को दूध पिलाया जाता है तो वह जहर बन जाता है। दूध व्यक्ति को पौष्टिकता देने वाला होता है किन्तु वही दूध सर्प को पिलायें तो वह विषवर्धन करता है। सन्निपात की भी बीमारी में दूध ग्रहण करें तो कभी वह बीमारी को बढ़ाने वाला भी बन जाता है। उसके पीछे दूध कारण नहीं, कारण भीतर रही हुई सन्निपात की अवस्था है। इस अवस्था में वह उसके लिए हितकारी नहीं बनता।

स्थानांग सूत्र कहता है–असत्त्वशाली, अनात्मभाव में रहने वाला अर्थात् आत्मभाव में नहीं किन्तु अनात्म–कषाय भावों में रमण करने वाला यदि धर्म सम्पदा प्राप्त कर ले और साधु बनकर विशाल ज्ञान भी प्राप्त कर ले और श्रुत सम्पदा और शिष्य सम्पदा बढ़ा ले तो वह भी उसके लिए दुःखदायी बनती है। वह उसके आत्म गुणों का पोषण नहीं करती बल्कि उसके अहंकार में वृद्धि करती है। तब ऐसा ज्ञान श्रुत, शिष्य सम्पदा और यह सारी अवस्था दुःखदायी बन जाती है, क्योंकि पहले से भीतर जो बीमारी पड़ी है जब तक उसे दूर नहीं किया जाता तब तक धार्मिक क्रिया भी आनंद, शांति, या संतोष नहीं दे सकती। यदि पहले से अजीर्ण है और ऊपर से कितना ही अच्छा पदार्थ खायें तो डकार तो अजीर्ण की ही आयेगी क्योंकि अजीर्ण को दूर नहीं किया गया था। इसलिए पहले भूमिका को शुद्ध करना आवश्यक होता है।

हम द्रव्य–क्षेत्र को महत्त्व नहीं देते हैं। कहीं भी धार्मिक अनुष्ठान करने लग जाते हैं। यदि धार्मिक क्रिया करनी है तो पहले द्रव्य–शुद्धि आवश्यक है। द्रव्य–शुद्धि क्या है, इसे भी समझें। हम सामायिक को ही ले लें। सामायिक का द्रव्य क्या है ? द्रव्य है सामायिक की पोशाक। यहां बैठने वालों में कितनों के पास पूंजणी है ? इसके बाद आती है मुँहपत्ति, बैठक (आसन) और चादर। ये सब चीज़े मिलेंगी, किन्तु एक चीज नहीं मिलेगी, वह है बिना लांग धोती। युग बदला और चोलपट्टा या पतलून सामायिक चालू हो गई। पैन्ट, पायजामा भी चल रहा है पर द्रव्य शुद्धि में बिना लांग की धोती का महत्त्व वताया गया है। पायजामा, पैन्ट, ये सारी संसार की पोशाकें हैं, धर्म अनुष्ठान की नहीं। प्रश्न होगा–चोलपट्टा में तो ऐसी कोई

द्रव्य–क्षेत्र–काल–भावशुद्धि की आवश्यकता

सुमति चरण कज आत्म अर्पणा........।

सुमतिनाथ भगवान् के चरणों में समर्पणा की भावना इस प्रार्थना के माध्यम से हम व्यक्त करते हैं। परन्तु जिन भगवान् के प्रति यह प्रार्थना है उनके शुभ नाम के भाव पर भी विचार करें। 'सु' उपसर्ग है जिसका अर्थ होता है सुन्दर, अच्छा, अतिशय आदि। 'मति' का अर्थ है बुद्धि। इस प्रकार 'सुमति' का भाव हुआ 'सन्मति' अथवा 'सद्बुद्धि'। स्वस्थ, सुखी, सम्पन्न और सफल जीवन बिता सकने के लिये सुमति आवश्यक है क्योंकि यदि मति ही भ्रष्ट रही तो सुख–शांति के किसी भी साधन की प्राप्ति संभव नहीं है। सफल एवं शुद्ध धर्म–ध्यान–आराधना भी बिना सुमति हुए संभव नहीं और यदि ऐसा नहीं होता है तो यह मानव–भव तो व्यर्थ जायेगा ही अगले भवों की स्थितियाँ भी अनिश्चित हो जायेंगी। अतः यह अपेक्षित है कि वैसी स्थितियों के कारणों की विवेचना करें जिससे उनसे बचाव के उपाय किये जा सकें। हम बात प्रारंभ करते हैं जीवन के सामान्य अनुभवों से। पानी पीने से यदि प्यास नहीं बुझे तो दोष पानी का है। भोजन करने से यदि भूख नहीं मिटे तो दोष आहार का है, ऐसा कभी–कभी मान लिया जाता है परन्तु जरूरी नहीं कि यह सही हो क्योंकि यदि इसी प्रकार यदि हैजे की बीमारी हो गई है और पानी पी रहे हैं तो भी प्यास बुझती नहीं। इसी प्रकार यदि भस्मक रोग हो जाता है तो कितना ही अन्न खा लिया जावे, किन्तु भूख शान्त नहीं होती। दुःख विपाक सूत्र में मृगालोढ़ा की कथा आती है। थाली –कटोरी भरे आहार से उसका काम नहीं चलता। महारानी एक गाड़ी भरकर आहार ले जाती हैं, और जैसे ही सामने रखती हैं वह कई दिनों के भूखे श्वान जैसा लपकता है और देखते ही देखते सारा आहार निगल जाता

है किन्तु फिर भी भूख शांत नहीं होती तब वह उसी का वमन करके उसे फिर खाने की कोशिश करता है। यह अन्न का दोष नहीं है, पानी का दोष नहीं है, दोष है भीतर रही बीमारी का। वैसे ही धर्मक्रिया या अनुष्ठान करने के बाद भी यदि शांति–संतोष नहीं मिलता है तो वह धर्म करणी निम्नस्तरीय नहीं है बल्कि हमारी बीमारी ऐसी है कि वह उसे निगल जाती है। सर्प को दूध पिलाया जाता है तो वह जहर बन जाता है। दूध व्यक्ति को पौष्टिकता देने वाला होता है किन्तु वही दूध सर्प को पिलायें तो वह विषवर्धन करता है। सन्निपात की भी बीमारी में दूध ग्रहण करें तो कभी वह बीमारी को बढ़ाने वाला भी बन जाता है। उसके पीछे दूध कारण नहीं, कारण भीतर रही हुई सन्निपात की अवस्था है। इस अवस्था में वह उसके लिए हितकारी नहीं बनता।

स्थानांग सूत्र कहता है–असत्त्वशाली, अनात्मभाव में रहने वाला अर्थात् आत्मभाव में नहीं किन्तु अनात्म–कषाय भावों में रमण करने वाला यदि धर्म सम्पदा प्राप्त कर ले और साधु बनकर विशाल ज्ञान भी प्राप्त कर ले और श्रुत सम्पदा और शिष्य सम्पदा बढ़ा ले तो वह भी उसके लिए दुःखदायी बनती है। वह उसके आत्म गुणों का पोषण नहीं करती बल्कि उसके अहंकार में वृद्धि करती है। तब ऐसा ज्ञान श्रुत, शिष्य सम्पदा और यह सारी अवस्था दुःखदायी बन जाती है, क्योंकि पहले से भीतर जो बीमारी पड़ी है जब तक उसे दूर नहीं किया जाता तब तक धार्मिक क्रिया भी आनंद, शांति, या संतोष नहीं दे सकती। यदि पहले से अजीर्ण है और ऊपर से कितना ही अच्छा पदार्थ खायें तो डकार तो अजीर्ण की ही आयेगी क्योंकि अजीर्ण को दूर नहीं किया गया था। इसलिए पहले भूमिका को शुद्ध करना आवश्यक होता है।

हम द्रव्य–क्षेत्र को महत्त्व नहीं देते हैं। कहीं भी धार्मिक अनुष्ठान करने लग जाते हैं। यदि धार्मिक क्रिया करनी है तो पहले द्रव्य–शुद्धि आवश्यक है। द्रव्य–शुद्धि क्या है, इसे भी समझें। हम सामायिक को ही ले लें। सामायिक का द्रव्य क्या है ? द्रव्य है सामायिक की पोशाक। यहां बैठने वालों में कितनों के पास पूंजणी है ? इसके बाद आती है मुँहपत्ति, बैठक (आसन) और चादर। ये सब चीज़े मिलेंगी, किन्तु एक चीज नहीं मिलेगी, वह है बिना लांग धोती। युग बदला और चोलपट्टा या पतलून सामायिक चालू हो गई। पैन्ट, पायजामा भी चल रहा है पर द्रव्य शुद्धि में बिना लांग की धोती का महत्त्व बताया गया है। पायजामा, पैन्ट, ये सारी संसार पोशाकें हैं, धर्म अनुष्ठान की नहीं। प्रश्न होगा–चोलपट्टा में तो ऐसी को

बात नहीं है ? किन्तु चोलपट्टा संत–मुनिराज के रहता है। यदि वही श्रावक के रहे तो भ्रांति होती है। जिस समय मैं गृहस्थ अवस्था में था सरदार शहर में, दिन में, तो बहुत कम चोलपट्टा पहनने का काम पड़ा पर रात में पहन लेते थे। मैं एकदा चोलपट्टा पहने हुए था, हाथ में घड़ी बंधी थी। एक भाई ने गुरूदेव के सामने कहा–वैरागी जी ! हमारा क्षेत्र कुछ अलग है। बहनें बातें कर रही थीं कि स्थानकवासी साधु घड़ी बांधे है। चोलपट्टा पहने देखा और साथ में घड़ी भी थी तो चर्चा चल पड़ी। आचार्य देव ने कहा–चोलपट्टा पहनो तो फिर घड़ी नहीं लगाना। कभी दिन में पहने हुए है और साध्वीजी पहुंचे तो वे भी भ्रांतिवश वंदन कर सकती हैं। ऐसा न हो, भ्रांति उत्पन्न न हो इसलिए चोलपट्टा साधुओं के लिए निर्धारित है। एक बात और है कि चोलपट्टा साधु के ऊँचे रहते हैं, श्रावक के नीचे। पर आप ये जानते हो कि आज साधु भी पूरे ऊपर वाले ही नहीं पहनते। इसलिए वहाँ भी परेशानी रह सकती है इसीलिए श्रावक अवस्था के लिए स्वतंत्र पोशाक बिना लांग की धोती का विधान प्राप्त होता है। धार्मिक क्रिया के लिए देखें तो यह द्रव्य अपने आप में प्रशस्त है। एक ओर आप अपने धर्म के प्रति का गौरव भाव महसूस करते हैं दूसरी ओर धर्म की पोशाक की उपेक्षा करते हैं। आपके पड़ौसी समाज के लोग, जिनकी अन्य क्रियाओं में बहुत अन्तर है वे पूजा के समय घर से धोती पहिन कर मंदिर तक जाने में शर्म महसूस नहीं करते। परन्तु आपसे कह दें कि घर से मुँहपत्ति लगाकर, कपड़े खोल कर, दुपट्टा ओढ़कर आना है, तो आपको अजीब लगता है, जो निरन्तर धर्मक्रिया में लगे हैं, उन्हें न भी लगे, पर युवाओं से कहें तो बिना चप्पल–जूते पहने वे कैसे चलें ? किन्तु द्रव्य शुद्धि रखी जाये तो हमारे भीतर भावात्मक परिवर्तन होता है जिसे हम एक प्रकार का रासायनिक परिवर्तन भी कह सकते हैं। वह अन्दर का परिवर्तन बताता है कि अब हम गृहस्थ परिवेश में नहीं हैं हमारी पोशाक साधना की है। एक पुलिसमैंन या सैनिक जब तक अपनी वर्दी या पोशाक में रहता है तभी तक उसका प्रभाव पड़ता है परन्तु वही व्यक्ति वर्दी उतार कर यदि दूसरी पोशाक में थाने के द्वार पर बैठे तो उसका प्रभाव पड़ता है क्या ? इसी प्रकार यह पोशाक परमात्मा के साथ हमारा संबंध जोड़ाती है। आप कहेंगे कैसे संबंध जोड़ाती है ? जो प्रधान वस्त्र होता है इसे उत्तरीय वस्त्र कहा है, वह ऊपर ओढ़ा जाता है। विवाह शादी होती थी तो पहले तो धोती–कुर्ता पहनते थे पर आजकल सफारी सूट आदि पहनते हैं किन्तु उसके बावजूद सफारी के किनारे से बहन का संबंध नहीं जोड़ा जाता है। संबंध किससे जोड़ते हैं ? कंवर सा. के कंधे पर दुपट्टा और बहिन

की साड़ी पर जो ओढ़नी ओढ़ाई जाती है उससे संबंध जोड़कर गांठ लगाई जाती है कि अब प्रधानता में प्रवेश हो रहा है। आज तक कुंवारे छोकरे थे पर अब छोकरापन नहीं रहा। अब गृहस्थ अवस्था में, गृहस्थ जीवन के दायित्व के क्षेत्र में प्रवेश कर रहे हो, इसलिये उत्तरीय अवस्था से संबंध जोड़ा जा रहा है। इसी प्रकार धार्मिक आराधना में उत्तरीय से संबंध जोड़ा जाता है। एक थानेदार वर्दी में हो तो उसे हम पहचान लेंगे। यद्यपि यह व्यवहारिक कथन है। परमात्मा को किसी वर्दी के बिना, भावों से ही पहचान पाएंगे। परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से कोई देखे तो पोशाक से ही पहचान लेगा कि ये धर्म अनुष्ठान में लगे हैं। तब उनके द्वारा या साधक के लिये व्यवधान नहीं पैदा किया जायेगा।

मगध सम्राट श्रेणिक को भगवान् महावीर से जब यह ज्ञात हुआ कि पूर्णिया श्रावक की एक सामायिक खरीदने से उनकी नरक टल जायेगी तो सम्राट कहाँ गये ? पूर्णिया के घर गये। उस समय पूर्णिया श्रावक क्या कर रहा था ? सामायिक में बैठा था। सम्राट खड़े रहे हों या घर में बैठ गये हों परन्तु व्यवधान नहीं पहुँचाया। पोशाक का ऐसा प्रभाव पड़ता है। ब्यावर की एक घटना बताई जाती है। चुन्नीलालजी महाराज आचार–व्यवहार में दृढ़ नहीं थे। वे गच्छबद्ध अवस्था में नहीं थे। वे गाँव के बाहर गुरुकुल में रुक जाते थे, वहीं अध्ययन–अध्यापन करते थे। घटना सन् 43/44 की होगी। महात्मा गाँधी के व्याख्यान के बाद उनके कार्यकर्त्ता झोली लेकर पैसे इकट्ठे करते और श्रोता उलटभाव से दान देते। एक बार चुन्नीलालजी महाराज भी भाषण में पहुँचे। वे गाँधी जी की बातों से प्रभावित हो गये तो वे भी झोली लेकर पैसे मांगने लगे। इस पर गाँधीजी ने कहा–इस वेश में पैसों के लिए झोली नहीं फैला सकते। आहार–पानी के लिए भले ही फैलाओ पर पैसों के लिए नहीं। यह बात अलग है कि उन्होंने मुँहपत्ती उतारी और उस काम में लग गये किन्तु गाँधीजी ने जो बात कही थी कि उस विशिष्ट पोशाक में वैसा करने पर भ्रांतियाँ पनपेंगी जो आने वाले समय में कष्टदायी बन जायेंगी। उस बात का महत्त्व समझें। विचार कीजिये कि वे राजनेता थे अतः कह दिया कि नहीं फैला सकते पर आजकल के श्रावकों के सामने फैलायें तो ? इस पोशाक में ऐसे खेल हो भी रहे हैं। ऐसा लगता है कि कुएं में ही भांग पड़ी है शुद्धि नहीं है तो फिर साधना के साथ या उच्च विचारों के साथ संबंध कैसे जुड़ेगा ?

प्रसन्नचंद्र राजर्षि ने मस्तक मुंड़ाया हुआ था, मन में ऊँचे–नीचे विचार आये, कोई 499 कहते हैं कोई 500 कहते हैं। उतने मंत्रियों को

उन्होंने भावों से मौत की घाट उतार दिया था। एक मंत्री बाकी रह गया। उसको मारने मुकुट को उतारने हाथ गया, पर मस्तक मुंडित था बोध हो गया। द्रव्यशुद्धि के कारण ऐसा। हुआ कभी भाव इधर–उधर हों या मन मटके तो द्रव्य भी उसे ठीक कर सकता है। पर यदि द्रव्य ठीक नहीं है, टी. वी देख रहे हैं और सोचें कि यहीं पर बैठ कर सामायिक कर लूँ तो उसे स्वयं को ध्यान नहीं रहता है कि में सामायिक मैं हूँ। आपको अनुभव है कि टी.वी. पर जब क्रिकेट का खेल देखने में मशगूल होते है तब कोई उत्साह का दृश्य आ गया तो आप भी हाथ उठाकर वैसा ही एक्शन करने लग जाते हैं। बालक भी टी.वी. देख कर उसके एक्शनों को जल्दी पकड़ लेते हैं और वैसा ही एक्शन करने लग जाते हैं। हमारी भी वैसी ही प्रतिक्रिया हो जाती है रामायण का प्रसंग टी.वी. पर आया तो 'जय श्री राम' कह कर जैसे हनुमान ने छलांग लगा दी थी वैसे ही बच्चे करने लगे और राम की तरह ही बच्चे नें भी तीर चला दिया तो किसी को चोट लगी और किसी की आंख फूट गई। ये प्रभाव हमारे ऊपर पड़ते हैं। इसलिए यदि बाहरी प्रभाव से जुड़ेंगे तो हमारे मन–वचन–काया में वैसी प्रतिक्रियाएं होंगी। इसलिए द्रव्यशुद्धि आवश्यक है। उस स्थिति में यदि आगे की क्रिया भी कभी ऊँची–नीची हुई तो पुनः स्थापित होने की संभावना रहती है।

क्षेत्र कैसा हो इस पर भी विचार करें। घर में यदि शांति नहीं हो , चारों तरफ शोर होता हो, कभी बहू झिड़कती हो और कभी सासू टोकती हो तो मन में विचार, आयेगा कि ये कैसी स्थिति है ? और भी कई तरह के विचार आ सकते हैं–जैसे सासू दिन भर क्यों बोलती रहती है। यह चुप क्यों नहीं रह जाती, ये भी देखा–देखी करती है ! विचार किजिये कि बैठे हैं, सामायिक में पर क्रिया कौन सी हो रही है ? क्या वह अनुकूल या उपयुक्त हैं ? क्योंकि क्षेत्र शुद्धि नहीं है। नल चालू है तो मन में विचार आयेगा, कोई ध्यान नहीं रखता, इतना पानी बहा जा रहा है ! तब किसी का ध्यान आकर्षित करने के लिये करेगा हूं–हूं, पर तब भी कोई उठे नहीं तो वहां कौनसा ध्यान होगा आर्तध्यान, रौद्र ध्यान या धर्म ध्यान? मन में यदि आक्रोश आ गया तो आर्तध्यान में चले जायेंगे और सामायिक बहू–बेटियों पर टूट पड़ेगी कि ध्यान नहीं रखते हो क्योंकि भीतर आर्तध्यान है। ऐसी अवस्था में व्यक्ति सामायिक को भी भूल जाता है विचार कीजिये कि हमारी जो प्रतिज्ञा थी, उसका क्या हो रहा है ? यदि घर में बैठ कर करेगें तो ऐसी स्थितियां बनती हैं। इसलिए सामायिक के लिए ऐसा क्षेत्र निर्धारित करें जहाँ मन शांत रह सके। विडम्बना यह है कि पहले तो मन ही शांत रहता

नहीं, फिर ऐसे स्थान में बैठें तो मन का मीटर तो रुकेगा ही नहीं तब कहेंगे कि सामायिक में मन लगता नहीं। लगाया कब ? अपने मीटर को तो चलाते रहे ! तब यही होना था।

काल की शुद्धि की बात भी समझ लें। काल की शुद्धि से तात्पर्य क्या है ? 48 मिनट की शुद्धि। किस शास्त्र में आया 48 मिनट ? हम 5 मिनट 10 मिनट सामायिक क्यों नहीं कर सकते ? पर यहाँ भी एक अनुशासन है। हमारे आचार्यों ने निर्धारण किया–48 मिनट। समय का यह तो काल है ही परन्तु यह भी ध्यान रखें कि यह आपकी अनुकूलता का समय है या नहीं ? मुँहपती बांध ली फिर मन में आया कि आज तो निपट कर नहीं बैठा। मन में आया तो भावना भी बनने लगी, बउसका भी जोर लगने लगा। बैठे हैं पर मन वहीं अटका रहेगा। फिर कहेगें, सामायिक में जाना पड़ा, कच्चे पानी का उपयोग करना पड़ा। ऐसा काल का ध्यान नहीं रखने से हुआ क्योंकि पहले जिनसे निवृत होना था उनसे हुए नहीं। कहीं बाहर जाना है, जल्दी उठ गये, अभी तो तीन बजे हैं, सामायिक हो जायगी। सामायिक लेकर बैठे। थोड़ी देर बाद मालूम पड़ा, पांच बज रहे हैं, समय देखने में अंतर रह गया था। तो मन में उतार–चढ़ाव आयेगा। तब सोचेंगे कि प्रायश्चित्त ले लूंगा, यह हुआ काल की शुद्धि न रहने से।

भाव शुद्धि की बात सबसे महत्त्वपूर्ण है। भाव होता है दो कारण तीन योग। करूं नहीं कराऊं नहीं और तीन योग मन–वचन–काया। गुजरात में कहीं–कहीं वचन और काया से अनुमोदूं नहीं भी लिया जाता है यानी आठ कोटि और यहां 6 कोटि की लेते हैं। आपने लाइट जलाई नहीं, पर जल रही है, उसमें अनानुपूर्वी, स्वाध्याय, या भजन गाने बैठें तो शुद्ध है या अशुद्ध ? और सेल की घड़ी हाथ में लगाकर बैठें, या सेल की घड़ी सामायिक में देखें तो शुद्ध है या अशुद्ध ? शुद्ध नहीं है क्योंकि यदि उसी के आधार पर ली है तो सावद्य योग से सम्बन्ध जुड़ेगा। यदि कोई कहे घड़ी देख सकते हैं तो टी.वी. देखने में क्या बाधा है ? किसी जैन मुनि कहलाने वाले का या आसाराम बापू का प्रवचन आ जाये तो देखने में क्या बाधा है ? तो समझें कि जैसे क्रिया यहां सावद्य है वैसे ही वहां भी सावद्य है और उसके (सेल की घड़ी के) आधार पर सामायिक ली है तो वह सामायिक भी शुद्ध नहीं है क्योंकि वहां भाव से शुद्धता नहीं है जो दो करण, तीन योग से होना चाहिये। इसी तरह कोई माईक पर बोले तो सामायिक में सुनना या नहीं ? आप कहेगें नहीं पर कई भाई कहते हैं, सुनना पड़ता है। परन्तु यदि कोई साधु माइक का प्रयोग कर रहा है और यह जानकार भी यदि श्रावक

सामायिक में बैठा है तो वह भी परोक्ष रूप से सहयोगी है, चारित्र पतन में। इस प्रकार वह उसे गलत कार्य में प्रोत्साहन दे रहा है। इसलिए कहा जाता है–भावों को देखो। देखो कि हमारी सामायिक द्रव्य, क्षेत्र, काल व भाव की दृष्टि से शुद्ध है या नहीं। यदि नहीं है तो वह आपकी आत्मा को शांति नहीं पहुंचा पायेगी। ऐसी सामायिक आनंद का झरना प्रवाहित नहीं कर सकती क्योंकि यदि भीतर बीमारी भरी है तो आनंद की हिलोर हम ले नहीं पायेंगे।

यदि संसार का काम भी हम द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव को देखे बिना करते हैं तो परेशानी में पड़ जाते हैं। वैसा ही धर्मानुष्ठान आदि कार्यों के साथ भी हो सकता है इसलिये उन कार्यों के लिए भी द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव देखना चाहिये। मैं यह भी कह चुका हूं कि साधु को भी इसकी जानकारी होनी चाहिये। यदि उसे उत्सर्ग–अपवाद की जानकारी नहीं है तो उसे अग्रसर हो कर विचरना नहीं कल्पता। यदि 5 साधुओं का चातुर्मास है और यदि उनमें से जो गीतार्थ साधु है वह काल–कवलित हो जाय और यदि अन्य साधु उत्सर्ग–अपवाद के ज्ञाता नहीं हैं तो चाहे चातुर्मास हो तो भी एक रात्रि से अधिक कहीं भी रुके बिना जहां गीतार्थ मुनि विराजमान हो, वहां पहुँचना अनिवार्य हो जाता है।

तब यह बात भली प्रकार से समझ लेने की है कि द्रव्य,क्षेत्र, काल और भाव की शुद्धि तथा उससे संबंधित स्थितियों और परिस्थितियों की जानकारी सभी के लिये आवश्यक है। चाहे सांसारिक जीवन से संबंधित विषय हो चाहे धार्मिक–अध्यात्मिक विषयों से संबंधित, सुख–शांति की प्राप्ति के लिये यह ज्ञान आवश्यक है। यह समझ कर ऐसी शुद्धि सुनिश्चित करने का हमारा लक्ष्य बने।

☆☆☆

11..8.2000

धर्म–आराधना में स्वधर्मी सेवा

धर्म की सम्यक् आराधना कैसे तथा किस रूप में हो, इस पर यदि विचार करें तो द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की शुद्धि की ओर ध्यान जाता है। इनका सम्यक ज्ञान किये बिना सम्यक् रूप से धर्म की आराधना करने की स्थिति भी बन नहीं पाती। प्रभु महावीर से प्रश्न पूछा गया कि गुरु और स्वधर्मी की सेवा से किस फल की प्राप्ति होती है ? प्रश्न यह भी है कि गुरु की सेवा करने से और स्वधर्मी की सेवा करने से क्या धर्मतत्त्व की प्राप्ति होती है ? उससे क्या हमारा जीवन धर्ममय बनता है ? यदि नहीं तो गुरु–स्वधर्मी की सेवा का फल किस रूप में प्रकट किया गया है ? और यदि धर्मतत्त्व की प्राप्ति हो सकती है तो वह भी किस रूप में हो सकती है ?

गुरु भी दो प्रकार के होते हैं–(1) लौकिक (2) लोकोत्तर। वैसे ही स्वधर्मी के भी दो रूप होते हैं– (1) लौकिक (2) लोकोत्तर। लौकिक गुरु उसे कहा है, जिससे एक भी अक्षर का बोध या ज्ञान होता है।

लोकोत्तर गुरु उसे कहा जाता है जिससे भाव अक्षर या आत्मा का बोध होता है। इसी प्रकार जो लौकिक दृष्टि से समान रीति, नीति, नियमों का पालन करते हैं अर्थात् सामाजिक स्तर पर समान जीवन जीते हैं, वे लौकिक स्वधर्मी तथा जो आध्यात्मिक दृष्टि से [illegible] पर [illegible] रहते हुए समान व्रत–नियमों का पालन करते हैं उन्हें लोकोत्तर स्वधर्मी कहा जा सकता है।

श्रावक, श्रावक का स्वधर्मी होता है। साधु–साधु तथा साध्वी–साध्वी भी स्वधर्मी हैं। श्रावक व साधु [illegible] स्वधर्मी हैं।

वीतरागता जो हमारा लक्ष्य है उसी दिशा में साधु व श्रावक [illegible] गति कर रहे हैं। इस अपेक्षा से [illegible]

की दृष्टि से श्रावक अणुव्रत स्वीकार करके चल रहा है, और साधु महाव्रत स्वीकार करके चल रहा है। उन दोनों की समानता नहीं है। समानता न होने से महाव्रतधारी, महाव्रतधारी के लिये स्वधर्मी होते हैं व अणुव्रती के लिए अणुव्रती स्वधर्मी होते हैं। किन्तु अणुव्रती भी महाव्रती के लिए स्वधर्मी हो सकते हैं, और होते हैं क्योंकि वे उनके धर्म में सहयोग करते हैं। वैसे ही महाव्रती अणुव्रती के लिए स्वधर्मी व सहयोगी हो सकते हैं बल्कि होते हैं। क्योंकि वे धर्म का बोध देने वाले हैं। श्रावक चर्या का पालन तथा श्रावक धर्म का आराधन कैसे करना, उसमें वे सहयोगी बनते हैं। हम अपेक्षा से स्वधर्मी भी हैं। परस्पर का इस प्रकार का सहयोग चलता है। जब पूछ लिया गया कि एक–दूसरे की सेवा करने वाला, गुरु स्वधर्मी की सेवा करने वाला, किस फल की प्राप्ति करता है तब भगवान ने उत्तर दिया–

"विणयपडिवत्तिं जणयइ विणयपडिवन्ने य णं जीवे

अणच्चासायणसीले नेरइय–तिरिक्ख; जोणियमणुस्सदेवदुग्गईओ निरुम्भइ।।"

वह विनय धर्म को प्राप्त करता है और विनय धर्म की प्राप्ति के साथ ही आशातना रहित बन जाता है। एक से एक की कड़ी जुड़ी हुई है। यदि विनय धर्म नहीं है तो आशातना से नहीं बचा जा सकता यह महत्त्वपूर्ण बात भी बताई गई है। गुरु स्वधर्मी की सेवा से विनय की प्राप्ति बताई गई है, परन्तु सेवा करके कोई अपने अहंकार का पोषण करे कि मैं बहुत सेवा करने वाला हूं, मैंने बहुत सेवा की है, ऐसी सेवा दूसरा नहीं कर सकता। यदि मन में इस प्रकार के गौरव के भाव आ जायें तो समझना चाहिये कि हमने गुरु स्वधर्मी की सेवा जिस तरीके से की जानी चाहिए थी उस तरीके से तथा उस रूप में नहीं की है क्योंकि यदि विधि–विधान से की होती तो विनय धर्म प्रकट होता। परन्तु जहाँ विनय प्रकट न हो बल्कि गौरव का भाव जगता हो कि मेरे समान दूसरा नहीं है स्वधर्मी की सेवा करने वाला। इस प्रकार के भाव से यदि अपने में गौरवाविन्त होता हो कि मैंने बहुत–से स्वधर्मियों को धंधे लगा दिया है, रोजी–रोटी दी है, मैं सहयोग देने वाला हूं, यदि ऐसे भाव भी जागृत होते हैं तो क्या उसने वास्तव में स्वधर्मी–सेवा की ? अपने धर्म का पालन किया ? नहीं, स्वधर्मी की सेवा तो दूर उसने अपने धर्म का पालन भी नहीं किया है। धर्म–पालन के बाद जिसमें अहंकार पैदा हो तो वह कहाँ धर्म का पालन कर पाया ? धर्म पालन वहीं होगा, जहाँ अहंकार कषायभाव उत्पन्न न हो विसर्जित ही रहे। यदि अहंकार या ममकार के भाव दूर रहते हैं, तब तो मानें कि हम स्वयं भी धर्म की

आराधना कर रहे हैं और हमें स्वधर्मी सेवा का लाभ भी प्राप्त हो रहा हैं, अन्यथा नहीं।

आज धर्म की आराधना में भी होड़ा–होड़ देखी जाती है। लोग विचार करते हैं कि यदि किसी ने मासखमण की तपस्या की है तो मैं भी करूं। ये भी प्रतिस्पर्धा है। यदि वहाँ अहंकार के भाव जगे हैं तो वह तपकर्म –निर्जरा में सहयोगी नहीं बनेगा। अमुक जगह स्वधर्मी के लिए चार–चार मिठाइयां वनी तों मैं रिकार्ड़ बनाऊं कि आज तक स्वधर्मी की जैसी सेवा नहीं हुई वैसी सेवा करुँ। यदि इस प्रकार का भाव भी जग रहा है तो वहाँ स्वधर्मी की सेवा नहीं हो रही है।

दशार्णभद्र राजा, भगवान महावीर के दर्शन के लिए जा रहा था और मन में भाव जगा कि मैं प्रभु महावीर के दर्शन के लिए इस प्रकार से पहुँचूँ जैसे आज तक कोई भी नहीं गया हो। भगवान महावीर के दर्शन खरे हैं, कि खोटे हैं ? दर्शन तो खरे हैं, किन्तु यदि हमारे भीतर ही खोट आ जाय तो क्या भगवान् महावीर के दर्शन का लाभ मिलेगा ? क्या संगम ने भगवान् महावीर को नहीं देखा, दर्शन नहीं किये ? हम उसे दर्शन नहीं कहते क्योंकि दर्शन की भावना दर्शनीय के प्रति अनुरागहो, तो होती है। यदि दर्शनीय के प्रति अनुराग के भाव नहीं हैं, श्रद्धा के भाव नहीं हैं तो वह देख तो सकता है, दर्शन नहीं कर सकता। देखना चमड़े की आँखों से होता है, दर्शन, अंतर के भावों से होते हैं। दोनों में अंतर है। आप कहेंगे क्या अन्तर है उसमें ? दो मित्र एक साथ पहुँचे। एक ने कहा–ओहो ! देखो कैसा स्वरूप है ! कैसी इनके त्याग की महिमा है ! कैसा वैराग्य है चेहरे पर, कैसी वीतरागता झलक रही है !दूसरो ने कहा–वीतरागता कहाँ झलक रही है,तुम तो अंधे यने हुए हो। सिर पर छत्र है, सिंहासन पर बैठे हैं, चामर डुलाये जा रहे हैं; यदि यही वीतरागता है तो सम्राट भी सिंहासन पर बैठते हैं। छत्र लगते हैं, तव तो वे भी वीतराग माने जाएंगे। इन दोनों में एक कर रहा है दर्शन, दूसरा मात्र, देख रहा है। इसलिए देखना वाहर की आंख से और दर्शन अंतर से। दशार्णभद्र राजा प्रभु महावीर का अनन्य भक्त था, श्रावक था। कहा जाता है कि–

"लाखीणा घोड़ा भी ठोकर खा जाता है किन्तु संभल जाता है।"

दशार्णभद्र ने भी ठोकर खाई, भीतर भाव जगे कि सम्पूर्ण वैभव में दर्शन करने वाला पहला व्यक्ति मैं वनूं इसलिए इस प्रकार का आडम्वर किया। पूरे लिवाजमे के साथ भगवान के दर्शन कि लिए पहुंचा। चतुरंगिणी सेना साथ थी। कलाकारों को आदेश दिया गया था कि कोई खामी नहीं

रहनी चाहिये। उधर प्रभु–दर्शन के लिए शक्रेन्द्र ने भी तैयारी की। उसने देखा दशार्णभद्र भगवान महावीर के धर्म का अनुयायी है, वह मेरा स्वधर्मी है क्योंकि हम दोनों भगवान महावीर के अनुयायी हैं। वह भी जिन–प्रवचन पर श्रद्धा एवं अनुराग रखने वाला है और मैं भी उस अनुराग में यदि अपना राग जुड़ जाय धर्म के साथ में अपने स्वार्थ का राग जुड़ जायं अपने अहंकार–ममकार के भाव जुड़ जाय तो धर्म का अनुराग शिथिल हो जायेगा। फिर उसमें उतनी शक्ति नहीं रह पायेगी। क्यों नहीं रह पायेगी ? विचार कीजिये आप यात्रा पर कार से, गाड़ी से जा रहे होते हैं और उसके टायर की ट्यूब में एक छिद्र कर दिया जाय तो क्या वह ट्यूब पूरा हवा से भरा रह पाएगा ? थोड़ा आगे बढ़े कि हवा निकल जायेगी और ट्यूब लूज हो जायेगा। वैसे ही धर्म के अनुराग में अहंकार–ममकार चाहे ये छोटे होते हैं, पर होते बड़े खोटे हैं। नींबू की एक बूंद यदि दूध में गिर जाय तो दूध को फाड देती है। उसमें से घी तत्त्व कहाँ चला जाता है ? वैसे ही धर्म के अनुराग में जो स्नेह भाव युक्त श्रद्धा का तत्व होता है वह अहंकार–ममकार से गायब हो जाता है। दूध में पानी और छेने का भाग तो दिखता है पर चिकनाई नींबू पड़ने से समाप्त हो जाती है। वैसे ही अहंकार–ममकार से धर्म के प्रति चिकनाई का भाग, धर्म के प्रति रहा उल्लास–तेज निकल जाता है। धर्म के प्रति जो अनुराग होता है, तेजोमयता होती है, वह समाप्त हो जाती है। इसलिए भगवान महावीर ने उत्तर दिया–गुरु–स्वधर्मी की सेवा से विनय धर्म की प्राप्ति होती है और जहाँ विनय की प्राप्ति होती है वहां आशातना रहित अवस्था स्वतः ही प्राप्त हो जाती है। ऐसा सेवाभावी विनयी व्यक्ति फिर किसी की आशातना नहीं करता।

साधु प्रतिक्रमण में अरिहंत, सिद्ध, साधु–साध्वी, श्रावक–श्राविका की आशातना की बातें तो बताई गई हैं, किन्तु प्राणभूत जीव सत्त्व की भी आशातना नहीं करना यह भी बताया गया है । इनकी भी आशातना नहीं करना, क्या है इसका मतलब ? सोचा कभी हमने, प्राणभूत जीव सत्त्व की कैसे होती है, आशातना ? जैसे कि स्वधर्मी–सहधर्मी अलग–अलग व्याख्या से बता दिये कि जो साथ में धर्मपालन करे वह भी और धर्मपालन में सहयोगी बने वह भी स्वधर्मी है वैसे ही प्राण–भूत–जीव–सत्त्व ये धर्म पालन में सहयोगी होते हैं। साधक के लिए बताया कि छः जीव निकाय धर्म –आराधना में सहयोगी होते हैं। प्राण, भूत, जीव सत्त्व भी सहयोगी हैं। यदि ऑक्सीजन शुद्ध न मिले तो, हो जाएगी धर्म आराधना ? यदि पानी पीने को न मिले, वायुमंडल शुद्ध न मिले तब क्या कर लोगे धर्म–आराधना ?

इसलिए उसका भी हम पर बहुत बड़ा उपकार भाव है क्योंकि इनके ही कारण हम धर्म–आराधना के अभिमुख बने हुए हैं।

एक वात और समझ लें प्रकृति के साथ छोटे–बड़े प्राणियों का भी हम पर बहुत उपकार है यद्यपि आज उनका बड़े पैमाने पर विनाश किया जा रहा है। विज्ञान उनके महत्त्व को स्वीकार करता है। जिसके घर गाय वंधी रहती है वह गाय उस घर के निवासियों के लिए कितना उपकार करती है, इस पर कभी विचार किया ? आप कहेगें दूध–दही, बछड़े देती है, ये तो ठीक हैं किन्तु जो श्वास वह छोड़ती है उसके प्रभाव से वहाँ इर्द–गिर्द वहुत–सी बीमारियां नहीं हो सकती। उसके नथुनें से निकलने वाली गैंसे आपके फेफड़ों में टी.बी. के जर्म्स जमने नहीं देतीं। पुराने वैद्य कहते हैं कि बकरियों से भरे बाड़ों में या जहाँ वे बांधी जाती है वहाँ टी.बी के मरीज को रखा जाय तो वहां पर ऐसी ऊर्जा प्राप्त करता है कि टी.बी के जर्म्स समाप्त हो जाते हैं। आज अन्य बहुत–से छोटे–छोटे जीवाणुओं पर शोध किया जा रहा है जो हवा में उड़ने वाले और मनुष्य के लिए घातक अनेक प्रकार के वैक्टिरिया को समाप्त करते हैं। इस प्रकार ये पर्यावरण संतुलन में वड़े सहायक बनते हैं।

वड़े प्राणी ही नहीं, ये छोटे–छोटे जीव भी सृष्टि में एक–दूसरे का वहुत उपकार करने वाले हैं। इसका ज्ञान भले हमें न हो किन्तु सर्वज्ञों ने इनके महत्त्व को समझा है और कह दिया है कि उनके प्रति भी आशातना के भाव या हीन भाव नहीं आने चाहिए। हमारे मन में उनके अस्तित्व के प्रति अपलाप के भाव न आयें कि यह छोटा प्राणी क्या उपकार करेगा ? हम यह भली प्रकार समझ लें कि सृष्टि में रहने वाले सभी प्राणी किसी न किसी रूप में उपकारी हैं। कोई अनन्तर उपकारी है, कोई परम्परा से उपकार करता है, कोई नजदीक से और कोई दूर से, उपकार से जुड़ा हुआ है। इसलिए कभी इनकी आशातना न करें। अव यह वात भी समझ में आ जानी चाहिये कि जो इन छोटे–छोटे जीवों की आशातना नहीं करेगा तो वह देव–देवी की, श्रावक–श्राविका की या मानव की आशातना कैसे करेगा ? यह संभव ही नहीं है क्योंकि उसके जीवन में स्वधर्मी का भाव इतना घना हो गया होता है कि आशातना उसके जीवन में रह ही नहीं पाती है। जिस कपड़े को वहुत क्षार पदार्थ युक्त पानी मिल जाये, रगड़ने का जिसे संयोग मिल जाये, उसमें मैल रह ही नहीं सकता। वैसे ही जिसके जीवन में, अणु–अणु में, स्वधर्मी सेवा के भाव दृढ़ हो जायं तो वहां आशातना के भाव रह ही नहीं सकते। ऐसा व्यक्ति गुरु–स्वधर्मी की सेवा से अपने जीवन को अनुरंजित करता है।

औरंगजेब के समय की घटना है। वह चाहता था कि वह लोगों को मुसलमान बना दें। लोगों की सभा गई यह विचार करने के लिये बुलाई कि कोनसा साधन अपनाया जाय जिससे लोगों को मुसलमान बनाया जा सके। आप जानते हैं, चाटुकारिता व धर्मान्धता में कई लोग माहिर होते हैं। ऐसे ही कुछ लोगों ने कहा कि शाही गोदाम अन्न से भर लिये जायं और जब अकाल पडे तब घोषणा की जाय कि अन्न चाहिये तो बनिये मुसलमान। ऐसे मुसलमान बनाये जा सकते हैं। वस्तुतः इस प्रकार से समुदाय को बढाया जा सकता है, पार्टी को बढ़ाया जा सकता है पर धर्म को नहीं। औरंगजेब ने विचार किया यह समस्या है–दुष्काल पड़ना। यह मेरे हाथ की बात नहीं है। मुझे कुद्‌रत के भरोसे नहीं रहना है। तब उसने एक उपाय किया। कहते हैं–सैंकड़ों खेत जिस समय फसल से लहलहा रहे थे, उनमें जब फसल खड़ी थी तब औरंगजेब ने कर्मचारी तैनात कर दिये कि कोई भी खेत में घुसे नहीं। किसान फसल काटने आते तो वे सैनिक कहते–जो मुसलमान बने वह फसल काट ले। नहीं, तो काट नहीं सकता। कहा जाता है हजारों परिवार ने उस समय मुसलमान मजहब स्वीकार कर लिया। यह प्रक्रिया पहले कश्मीर में, फिर पंजाब में लागू की गई। त्राहिमाम् त्राहिमाम् की आवाज उठने लगी। चारों ओर हा–हाकार मच गया। जनता ने गुरु तेगबहादुर का आश्रय लिया। और निवेदन किया गुरु ! धर्म की रक्षा करो हा उन्होंने कहा–औरंगजेब को संदेश भिजवा दो कि यदि तुमने हमारे गुरू को मुसलमान बना लिया तो हम सारे मुसलमान बन जाएंगें। औरंगजेब ने सोचा यह तो बहुत आसान है। हजारों के बजाय एक को साधना सरल है। तेग बहादुर को दिल्ली में लाया गया और जमीन जायदाद का प्रलोभन दिया गया। वे नहीं माने तो भय दिखाया गया। उनका एक ही उत्तर था जैसे आपको अपना धर्म प्यारा है वैसे ही अपना धर्म हमें भी प्राणों से प्यारा है। इसे कैसे छोड़ दें ? औरंगजेब ने कहा–तुम्हारे धर्म में सच्चाई नहीं है, यदि है तो दिखाओ चमत्कार। तेग बहादुर ने कहा–"चमत्कार दिखाने का काम जादूगर करते हैं, वे हाथ की सफाई दिखाते हैं। परमात्मा का भक्त चमत्कार नहीं दिखाता।" हम जानते हैं कि आज भी व्यक्ति चमत्कार को

चमत्कारों से भरे पड़े हैं देखने वाली आँख चाहिये।

औरंगजेव ने कहा–देख लो, अभी समय है यदि मान गये तो यह ओहदा, यह जमीन तुम्हारी, नहीं माने तो सजा–ए–मौत। दूसरा कोई होता तो कहता–कोई वात नहीं 'आपत्ति काले मर्यादा नास्ति।' ऐसे समय में क्या करना ? समझौता कर लो, अपवाद का अवसर आ गया ? आपने ही तो कहा है कि उत्सर्ग–अपवाद का ज्ञाता होना चाहिए पर क्या उन्होंने समझौता मंजूर कर लिया ? नहीं, वह बंदा धर्म पर डटा रहा।

'धर्म पर डट जाना है वीरों का काम'। कौन है वीर ? जहाँ धर्म पर डटने की वात आती है तो हमें साँप सूंघ जाता है और कहीं झगड़ा, वाद–विवाद करना है तो आवाज बुलन्द हो जाती है। धर्म के प्रति भी वैसा ही अनुराग और दृढ़ भाव होना चाहिये।

वधुंओ ! धर्मरक्षा वस्तुतः वीरों का काम है और वह तो समय ही वतलाता है कि कौन कितने पानी में है, कैसी वीरता उसमे है। धर्म के क्षेत्र में जिस समय हमारी आवश्यकता होती है उस समय हम दुबक कर बैठते हैं या दमक कर सामने आते हैं यह होती है वीरता की कसौटी। 1997 में जव आचार्य देव पूज्य गुरुदेवश्री नानालालजी म. सा. का चातुर्मास ब्यावर में सम्पन्न हो रहा था तव वच्चे–बच्चे में धर्मभाव हिलोरें ले रहा था। दिन–रात जव कहो तव हर एक बच्चा तैयार। जब चातुर्मास खुला तब भंवरलालजी ओस्तवाल अध्यक्ष थे। और कहीं तो खींचतान चलती पर वहां उन्होंने स्वयं चला कर कह दिया–अध्यक्ष कोठारी जी को बनाया जाय। यह तो केवल एक उदाहरण है गुरु–स्वधर्मी सेवा का। यह तो बात थी केवल व्यवस्था की परन्तु हमारी मानसिकता कैसी होनी चाहिये उसे प्रकट करती है। यह नहीं कि पद मिले तो ही सेवा करें, नहीं तो नहीं करें। बैंगलोर के छगललालजी मुथा कौनसे पद पर थे ? पद पर नहीं रहना, पर काम करना यह उनका चिन्तन था। सेठ श्री छगनलाल जी मुथा चेन्नई, कर्नाटक के पूरे एरिये में ऐसे सेठ है कि स्वधर्मी सेवा से अपने आप को जोड़े रखते हैं। कोई भी स्वधर्मी आये तो सेवा करना उनका आदर्श है। वे कहते थे मुझे कोर्ट – कचहरी नहीं जाना। लाखों रुपये जिन पर वाकी हैं यदि वह लाकर दे दे–तो ले लिये परन्तु यदि दवा लिये तो उस पर कोर्ट कचहरी या नालिश नहीं करना। कोई स्वधर्मी आ गया तो पास में वैठा कर मोहव्वत से भोजन कराते हैं। यह नहीं कि नौकर करवा देगा। पास में माल पड़ा है, धीरे–धीरे परोसगारी करते हैं कि अरे ! थोड़ा तो और लो। यह है स्वधर्मी सेवा का भाव। आज वहुत–से व्यक्ति औपचारिकता में जीते हैं, चातुर्मास में भोजनशाला लगा लेते हैं और भोजन के लिये वुला लेते हैं। पर हृदय से वोलिये कि

हृदय में अनुराग कितना होता है ? यदि अहंकार के भाव हैं तो समझिये छेना और पानी का भाग दिख जायेगा पर चिकनाई–स्नेह के भाव उसमें नहीं मिलेंगे। यदि वस्तुतः स्वधर्मी की सेवा का रूप देखना है तो छोटे गांवों में जाइये।

आचार्य देव पूज्य गुरुदेव श्री नानालालजी म.सा. के मुंह से मैंने सुना है कि जिस समय शांत–क्रांति के अग्रदूत गणेशाचार्य का चातुर्मास जयपुर में होना था तब उससे पूर्व छोटे–छोटे गाँवों में विहार हो रहा था। उलखाना में आचार्यश्री जी विराज रहे थे। जहाँ ओसवाल जाति के घर नहीं, मीणा जैनों के घर ज्यादा हैं, पर उस क्षेत्र में उन्हें अपार श्रद्धा–भक्ति के दर्शन हुए। उस क्षेत्र में कोई क्षेत्र में कोई शिकार नहीं कर सकता। उसके आस–पास के कई क्षेत्रों में मुसलमान भी हैं पर उनकी हिम्मत नहीं थी कि वहाँ पहुँच कर शिकार कर लें। वे खोटा खाना नहीं खाते थे और आप जिस दृढ़ता और साहस से हिंसा का विरोध नहीं कर सकते वे कर सकते थे, आस–पास के पूरे क्षेत्र में उनका दबदबा था। जयपुर के कुछ जौहरी वहाँ पहुँचे। गाँव वालों ने देखा कि ये पावने आये है। संत आते हैं तो इनके पैर पड़ते है, नहीं तो कौन आते हैं। जब अनेक क्षेत्रों के स्वधर्मियों के पैर पड़े तो मानों उनके पैरों में पहिये लग गये और वे दौड़–दौड़ कर सेवा भक्ति में लग गये। मैंने सुना है कि जब हम यहाँ आये चातुर्मास था। तब वे ही भाई यहाँ पर वे जौहरी उन्हें पहचान भी नहीं पाये कि ये हमारे स्वधर्मी हैं क्योंकि उनकी पोशाक आपकी पोशाक से मिलाप करने वाली नहीं थी। आज यह हालत है कि कोई पोशाक सजाकर आये तो आप सामायिक भी भूल जायेंगे और पधारो सा पधारो सा.कहने लगेंगे। घुटनों का दर्द भी समाप्त हो जायेगा। यदि कोई राजनेता या धनी मानी यहां आये तो आगे पहुँचेगें और माला पहनायेंगे और चाहेंगे कि उसके साथ कैमरे में पोज आ जाय। यदि अमेरिका का राष्ट्रपति आ जाय तो शायद संसद उलट पड़ेगी कि उनके साथ, कैमरे में हम फिट हो जायें। जब हमारी मानसिक दशा ऐसी है कि हम दिखावे को ही महत्त्व देते हैं तो हम कहाँ धर्म कर पाएंगे ? स्वधर्मी के प्रति प्रेम का भाव कैसे आएगा ? इस स्थिति में उन स्वधर्मी भाइयों को जो घुटने तक धोती पहनते हैं, अंगरखा जिसमें बटन नहीं होते जो डोरी से बाँधा जाता है, वह पहनते हैं और सिर पर साफा बाँधते हैं उन्हें कौन स्वधर्मी माने। तव पूज्य गुरुदेव शांत क्रांति के अग्रदूत श्री गणेशाचार्य ने एक वात कही थी कि उखलाना पहुँचे थे तब इन्होंने मालपुए से सेवा की थी वह भूल गये ! तव जयपुर के जौहरियों को वोध हुआ। हो सकता है कभी याद आये न आये, पर लाखीणा घोड़ा अड़कर

खड़ा हो जाय तो ही लखीणा कहा जा सकता है पर जो गिरकर भी न उठे तो उसे लाखीणा कहा नहीं जा सकता। ब्यावर के भाइयों ने दिन–रात एक कर दिया, बच्चे–बच्चे में अनोखे धर्म भाव देखे गये। हालांकि मैं चार्तुमास के वाद पहुंचा था पर फिर भी वही जोश–उत्साह की भावना सब में देखी। गुरु व स्वधर्मी, मेघ पावने समान होते हैं। जैसे मेघ के लिए तरस होती है वैसे ही छोटे–छोटे गांवों में लोग पावनों के लिये तरसते हैं कि एक दिन का समय उनके साथ मिल जाय चार दिनों का समय मिल जाय तो चौमासा मान लेगें वहां संत जाते हैं तो उनका उल्लास दर्शनीय हो जाता है।

इसलिए जागिये ! गुरु–स्वधर्मी की सेवा में तहेदिल से जुड़िये तभी धर्म का लाभ उठा पाएगें। यदि औपचारिक रूप से जुड़े तो अंतर का जो लाभ मिलना चाहिए वह प्राप्त नहीं हो पायेगा। अंतर–लाभ है तो विनय भाव प्रकट होना चाहिए। विनय जिसमें प्रकट हो गया वह किसी की आशातना, अवज्ञा, तिरस्कार नहीं करता। वहां होता है अनाशातना का भाव। ऊपर से मीठी–मीठी बातें परन्तु पीठ पीछे निन्दा की बातें तो वहां वस्तुतः अनाशातना के भाव बन नहीं पायेंगे। तब विनय धर्म नहीं आ पायेगा ? आशातना–रहित होने पर किस फल की प्राप्ति होती है ? गुरु जो आदेश–निर्देश देते हैं, उन्हें पूरा करना होता है। शक्रेन्द्र ने अपने स्वधर्मी को देखा कि उसकी सेवा में नींबू की बूंद आ रही थी। उसने निश्चय किया कि नीबू की बूंद वह नहीं आने देगा। वह धर्मश्रद्धा को फाड़ने वाली होती है। उसमें रही चिकनाई को समाप्त करने वाली होती है। उसके पास वैक्रिय शक्ति थी। एक–एक हाथी के दांत पर बावड़ियों आदि की अनोखी रचना कर दी। दशार्णभद्र ने देखा, अरे ये! इसकी बराबरी तो मैं नहीं कर सकता ! किन्तु वीर था। और–"वीरा ने लागे वचन जता जणा"।

दशार्णभद्र ने देखा यह तो मेरी अवमानना है। वह सोचने लगा–यह क्यों हुआ ? क्या मैंने अपने भीतर किसी विकारी भाव की संयोजना की, है जिसके कारण ऐसी अवमानना हुई है ? फिर उसने सोचा ओं' हो ! एक विकारी भाव से यह अवमानना हुई और मेरे भीतर तो कितने ही विकारी भाव हैं ? तव न जाने कितने भवों तक मुझे अवमानना का पात्र वनना पड़ सकता है ? प्रभु के सामने पहुँचे–भगवन् ! मैं अगार धर्म छोड़कर अणगार धर्म स्वीकार करना चाहता हूं कितनी देर लगी ? विल्कुल नहीं पर आपकी स्थिति क्या है ? आज कोई आपकी कितनी ही अवमानना कर दे पर आप अहंकार छोड़ना नहीं चाहेंगे ! आपके अहं से भले दुनियां पलट जाये पर अपनी हेकड़ी नहीं छोड़ेंगे। एक तरफ तो कहते हैं 'सिर जाये तो जाये पर सत्य धर्म नहीं जाये' पर दूसरी ओर क्या हो रहा है–'धर्म जाये तो जाये

पर अकड़ नहीं जाये'। क्या यही गुरु की सेवा है ?

वंधुओं ! भगवान् के यहां कोई भाई–भतीजावाद नहीं है। कोणिक प्रतिदिन भगवान् की सुख–शांति के समाचार लिए बिना अन्न ग्रहण नहीं करता था पर उसने भी जब पूछा मरकर कहाँ जाऊंगा ? तो उत्तर मिला–छटी नरक में। श्रेणिक ने पूछा तो भी यह विचार नहीं किया कि ये इतनी भक्ति करने वाला है, इसके नरक की बात कह दूंगा तो क्या होगा ? सोचेगा कि जव नरक में ही जाना है तो क्यों करूं भक्ति, क्यों उपासना करूं। रहने दो तुम्हारा धर्म ! पर भगवान् महावीर को ऐसी प्रतिक्रिया से क्या लेना–देना था। वहां तो खुली किताब है। उन्होंने श्रेणिक से भी कहा–पहली नरक में जाओगे। तेगबहादुर ने कहा सिर कलम भले हो जाये पर धर्म कलम नहीं होगा। औरंगजेब ने आदेश दिया–बाजार के बीच में सिर कलम कर दो। वताया जाता है कि सिर हटाया गया तो नीचे चिट निकली।

'सिर दिया किन्तु शिखा नहीं दी।
तन दिया किन्तु धर्म नहीं दिया।'

हम भी अपने–अपने घट में देख लें। हमारे घट में भी ये ही भाव रहने चाहिये–जीवुं छे तो धर्म ना काजे, मरवुं छे तो धर्म ना काजे। जीयें तो धर्म के लिए और सिर कलम करवाना पड़े तो धर्म के लिए। धर्म प्रेम के ऐसे वहुत–से आख्यान धर्म–शास्त्रों में भरे पड़े हैं।

कार्तिक सेठ के लिए तापस ने कहा कि नमस्कार नहीं करे तो पीठ पर खीर जीमूंगा। पीठ पर भले खीर जीमे पर सिर नवाना मंजूर नहीं। आज तो कहेंगे, कोई भी हो त्याग पाल रहा है तो म्हारा से चोखा ही है। मैं खराव हूं तभी तो दूसरे अच्छे दिख रहे हैं। तुम खराब नहीं होते तो वे अच्छे केसे होते ? एक–एक साधु से श्रावक अच्छे हो सकते हैं चाहे पोशाक धारण नहीं की है पर भावों में यदि श्रेष्ठता है तो। इसलिए भ्रमणा में नहीं रहें। भावों का महत्त्व है। भावों में सेवा के भाव आयें तो जीवन में विनय आयेगा और आशातना के भाव नहीं रहेंगे। तव प्रत्येक प्राणी के प्रति कोमलता के भाव रहेंगे।

मैंने प्रारंभ में वताया था कि धर्म की सम्यक् आराधना कैसे तथा किस रूप में होनी चाहिये। उसी संदर्भ में गुरु और स्वधर्मी की सेवा से प्राप्त होने वाले फल की चर्चा भी की थी। आप समझ गये होंगे कि स्वधर्मी की पहचान पोशाक से नहीं, उसकी भावनाओं से होती है। यह समझ कर स्वधर्मी के प्रति वात्सल्य भाव रखें आप लोग धर्माराधना और तपस्या की बात करते हैं। तपस्या में भी भावना का महत्व होता है। तपस्या स्वागत,

सम्मान या प्रशंसा प्राप्त करने के लिये नहीं की जाती। तपस्या आत्मशुद्धि के लिये होनी चाहिये। सच्चा साधक प्रशंसा, सम्मान या स्वागत की भावना नहीं रखता परिवारजन इसमें सहयोग प्रदान करते हैं। इस प्रकार का सहयोग कर वे धर्माराधना को तो प्रोत्साहित करते ही हैं, अपनी आत्मा को भी धन्य बनाते हैं। हम भी स्वधर्मी वात्सल्य एवं स्वधर्मी सेवा से जुड़ेंगे तो हमारा जीवन भी धन्य बन पायेगा।

☆☆☆

12.8.2000

गुरु–स्वधर्मी सेवा का अनुष्ठान

प्रत्येक व्यक्ति चाहता है कि जो भी कार्य वह करे उसमें सफल हो जाये। जो भी कार्य वह प्रारंभ करे वह निष्पत्ति तक पहुँचे, पूर्ण हो जाय। बीच में कोई विघ्न पैदा न हो। किन्तु कहते हैं कि जो मांगलिक कार्य होते हैं, उनके बीच में विघ्न बाधाएं विशेष आया करती हैं, उन्हें दूर करने के लिए मंगलाचरण किया जाता है, मंगल किया जाता है। धार्मिक अनुष्ठानों में भी जब मंगलाचरण करते हुए देखा जाता है तो विचार होता है कि धर्म तो मंगल है ही फिर उसके लिए मंगलाचरण क्यों किया जाता है ? इसका उत्तर यह है कि धर्म मंगल है किन्तु जो अनुष्ठान किया जाता है वह निर्विघ्न पूर्ण हो, इसके लिए मंगलाचरण किया जाता है। गुरु एवं स्वधर्मी की सेवा भी धर्म अनुष्ठान का ही एक अंग है। उसकी आराधना करने वाले को क्या लाभ होता है इसकी चर्चा में बताया है कि–

'पसत्थाइं च णं विणयमूलाइं सत्वकज्जाइ साहेइ'।

गुरु की सेवा परिचर्या करने वाला विनयमूलक सभी प्रशस्त कार्यों को सिद्ध करता है। प्रशस्त कार्य अर्थात् शुभ कार्य। उन शुभ कार्यों को सफलता से सिद्ध करता है। कोई भी कार्य असिद्ध नहीं रह पाते। कितनी महत्त्वपूर्ण बात बताई है। बातें महत्त्वपूर्ण होती है पर हमारे लिए वे बातें महत्त्वपूर्ण तब सिद्ध होती हैं जब हम उनको साध लेते। गुरु की सेवा, स्वधर्मी की सेवा, उपासना यदि हम साध लेते हैं तो कहना नहीं पड़ेगा कि हमारे शुभ कार्य सफल होंगे या नहीं होंगे।

सुबाहुकुमार की कथा में एक प्रसंग है। भगवान् महावीर से पूछा गया कि–यह ऋद्धि–सिद्धि–सम्पत्ति सुबाहु को किस कारण से, किस निमित्त से मिली ? कई प्रश्न पूछे गये–

"किं वा दच्चा किं वा भोच्चा, किं वा समायरित्ता, कस्स वा तहारुवस्स समणस्स, वा माहणस्स वा अंतिए एगमवि आरियं धम्मियं सुवयणं सोच्चा... ।"

क्या दिया, क्या खाया, क्या आचरण किया और किस एक आर्य, धार्मिक वचन को श्रमण–माहण से श्रवण किया ? वस्तुतः श्रमण अर्थात् गुरु, माहण अर्थात् स्वधर्मी। माहण का अर्थ संत भी होता है और माहण का अर्थ श्रावक भी होता है। माहण की व्युत्पत्ति करते हुए कहा गया है 'मा हन' प्राणियों का वध, हनन मत कर। इस प्रकार का जो उपदेश देते हैं, आचरण करते हैं, वे माहन कहलाते है। जहाँ माहम अकेला शब्द होता है वहां उसका अर्थ श्रमण भी करते हैं और जहां श्रमण–माहम दोनों पद साथ–साथ आते हैं वहां श्रमण का अर्थ साधु और माहम का अर्थ श्रावक लिया जाता है।

गुरु–स्वधर्मी की मैं कुछ व्याख्या कर चुका हूँ। गुरू कौन है, स्वधर्मी कौन है ? यह आप समझ चुके हैं। इस प्रकार संत भी स्वधर्मी और श्रावक–श्रमण भी स्वधर्मी हैं। दोनों एक ही धर्म की उपासना करने वाले हैं। दोनों एक–दूसरे के धर्म में सहयोगी हैं।

इस दृष्टि से उन्हें सहधर्मी कहा गया है।

सहधर्मी शुश्रूषा के भी दो अर्थ आयेः–

(1) उनके वचन को स्वीकार करें।

(2) सही तरीके से श्रवण करें।

प्रभु ने कहा–स्वधर्मी के वचन को सुनना भी जीवन में क्रांतिकारी परिवर्तन लाने वाला बनता है। सुनना कैसे ? हम सोच लेते हैं, कानों से सुन रहे हैं। किन्तु केवल कानों से सुनना सुनना नहीं होता, और उसे श्रुति भी नहीं कहा गया है। भगवान् महावीर ने स्पष्ट कहा है–

"सोच्चा जाणइ कल्लाणं, सोच्चा जाणइ पावगं
उभयंपि जाणइ सोच्चा, जं सेयं तं समायरे। "

सुनकर ही कल्याण मार्ग को जान सकते हैं, सुनकर ही पाप मार्ग को जान सकते हैं। सुना था, आर्य सुधर्मा स्वामी ने; सुना था आर्य जंबू स्वामी ने। सुधर्मा स्वामी, जंबू स्वामी से कहते हैं–सुयं में आउसं..... ।

हे आयुष्मान् जंबू ! मैंने श्रमण भगवान् महावीर से सुना है। पर किस प्रकार से सुना है ? यह नहीं कि भगवान् फरमा रहे हैं और मैं इधर–उधर घूमता–फिरता सुन रहा हूं। यह भी नहीं कि भगवान् बोल रहे हे और मैं किसी से वार्तालाप कर रहा हूं और दो–चार शब्द मेरे कान में पड़

गये। यह भी नहीं कि भगवान् तो फरमा रहे थे, मैं थोड़ी–थोड़ी नींद ले रहा था ? फिर कैसे सुना ? विधि क्या है ? हम सुनना केवल कानों से करते हैं।

एक सम्राट के यहाँ कलाकार तीन मूर्तियां लेकर आया। राजा को पसन्द आ गई। जब कीमत आँकने का समय आया तो कहा गया कि तीनों तो समान हैं इस पर कलाकार ने कहाँ–अन्नदाता ! तीनों में अन्तर है। कीमत आंकने के लिए जब दीवानजी से कहा गया तो दीवानाजी ने परीक्षण करके कहा–एक नकामी है, दूसरी का कुछ मूल्य है पर तीसरी का मूल्य आंका नहीं जा सकता। कारण स्पष्ट था–पहली के एक कान में तार ड़ाला गया तो वह दूसरे से निकल गया। दूसरी के कान में डाला गया तो वह मुँह से निकल गया। तीसरी के कान में डाला गया तो वह उसके पेट में उतर गया। वहाँ मूर्ति के मूल्य की बात थी। वैसे ही तीन प्रकार के श्रोता होते हैं वे किस प्रकार सुनते हैं–इसे भी समझिये पहला एक कान से सुनता है दूसरे से निकाल देता है।

(2) दूसरा सुनता है पर ह्दय में उतार नहीं पाता

(3) मुंह से दुहरा होता है। दूसरों के सामने कहता है कि अमुक से ऐसा सुना है तो वह कम से कम इस बात को आगे बढ़ाने वाला तो बनता है। आचरण नहीं करता, पर प्रसारित करता है।

(3) तीसरा श्रोता अपने अंतर में उतारने वाला होता है। इसलिए कहा है–

एक वचन श्री सद्गुरु केरो.....जो पैठे दिल मांय रे प्राणी।

ज्यादा नहीं, पूरा व्याख्यान सुनने की आवश्यकता नहीं एक वचन ही पर्याप्त है। जो दिल में बैठ जाय'।

आचार्य भगवन् पू. गुरुदेव श्री नानालाल जी म.सा. के आचार्य पद का दूसरा वर्ष प्रांरभ ही हुआ था। वे नागदा में विराज रहे थे तब वहाँ सीतारामजी बलाई आये। आचार्य भगवन् पाट पर विराजे थे। वे पीछे खड़े हो गये और बोले–गुरुदेव। कुछ कहना है। गुरुदेव ने फ़रमाया–कहो, क्या कहना चाहते हो ? सीतारामजी ने कहा–गुरुदेव! एक बड़ी पीड़ा की बात है। हम हिन्दू, जो गाय की रक्षा करने वाले कहलाते हैं, वे ही आज गोभक्षक वनने की तैयारी में आ गए हैं। हिन्दू हमसे नफरत करते हैं। अपने बराबर विठाने के लिए तैयार नहीं, रोटी–वेटी की बात तो बहुत आगे की है। उधर दूसरे समाज वाले अपनाने को तैयार हैं। उस स्थिति में यदि ईसाई मुसलमान वन गये तो स्थिति ऐसी है कि पूरा समाज उधर ही मुड़

जायेगा और लाखों व्यक्ति गोरक्षा करने वाले, गो–भक्षण करने की स्थिति में आ जायेंगे। आचार्य भगवन् ने कहा–भाई ! मनुष्य अपने कर्म से ही शुद्र होता है, और अपने कर्म से ही ब्राहम्ण होता है।

भगवान महावीर ने जन्म की नहीं, कर्म की महत्ता स्वीकार की है। पीछे जैन कुल में जन्म लेने वाला शूद्र से बद्त्तर काम कर सकता है। पीछे जैन लगा ले पर बूचड़खाने का डायरेक्टर बने तो वह जन्म से जैन है पर कर्म से नहीं। डालडा घी में चर्बी मिलाये तो वह जैन नहीं हो सकता। एक ब्राह्मण भले गौमुखी में हाथ रख कर विष्णु सहस्रनाम का जाप करे, तिलक–छापे लगाये पर जब तक उसका खान–पान सही नहीं है, आचरण सही नहीं है तब तक भले ब्राह्मण कुल में उसने जन्म ले–लिया हो पर कर्म से उसे ब्राह्मण नहीं कहा जा सकता। इसलिए आचार्य देव ने कहा–तुम पुरुषार्थ करो, जो भी खोटा खाना है उसे छोड़ो। सीतारामजी ने पूछा–क्या आप हमारे भाइयों को उपदेश दे सकते हैं ? आचार्य देव ने मुझे कहा–आपत्ति नहीं हैं तब वह बोला यहां से 15 कि.मी. दूर गुराड़िया गाँव है–वहां 700 गांवों के पंच विवाह प्रसंग से इकट्ठे होंगे। आप पधारें तो यह लाभ हमें प्राप्त हो सकता है।

चैत वदी 8–9 की बात होगी। आचार्य देव बीच के गाँव में रुक कर दशमी को गुराड़िया पधारे। वहाँ पर 700 गांवों के भाइयों के बीच धर्मनाथ भगवान की प्रार्थना करते हुए, उन्होंने धर्म के स्वरूप को स्पष्ट किया, दुर्व्यसनों की संक्षिप्त व्ख्याख्या की तथा उनसे होने वाली हानियाँ बताई। व्यक्ति किस प्रकार ऊँचा उठ सकता है तथा किन कारणों से वह नीच बनता है इसका स्वरूप भी उन्होंने बताया। इसके बाद आचार्य देव ने स्पष्ट किया कि गुलाम के घर जन्म लेने वाला, जरुरी नहीं कि गुलाम ही रहे और जनतंत्र पद्धति में राष्ट्रपति के घर जन्म लेने वाला राष्ट्रपति ही बने यह जरूरी नहीं भारत के राष्ट्रपति के पद पर भारत का कोई भी नागरिक आसीन हो सकता है। हमारे जीवन में पुरुषार्थ आना चाहिये। लोगों ने उनका प्रेरणादायी व्याख्यान सुना और वह पूरा भी नहीं हुआ था कि जनता उठ कर खड़ी हो गई आग्रह करने लगी। हमें प्रतिज्ञा करवा दीजिये। हम मांस का सेवन नहीं करेंगे, शिकार नहीं खेलेंगें, शराब नहीं पीएंगे। आप कहेंगे ऐसी बात तो चौथे आरे में हुआ करती थी। जब भगवान् महावीर उपदेश देते थे और लोग कह उठते थे–आलित्तेणं भंते लोए, पलित्तेणं भंते लोए......। इस संसार में विषय–कषाय की आग लगी है, जल रहा है विश्व, हमें बचाइये, हमें उबारिये। भगवन् मैंने प्रवचन सुना है–'निग्गंथं पाव

सच्चं।' निर्गन्थप्रवचन सत्य है। भगवन् ! मैं अगार धर्म से अणगार धर्म स्वीकार करना चाहता हूं। कई कहते–अभी मुझ में इतना सामर्थ्य नहीं है कि अगारी से अणगार बन सकूं। किन्तु आपके सान्निध्य में 5 अणुव्रत, 3 गुणव्रत, 4 शिक्षाव्रत रूप 12 प्रकार का गृहस्थ धर्म स्वीकार करना चाहता हूँ। और भगवान् महावीर उन्हें निर्गन्थ प्रर्व्रज्या देते। श्रावक धर्म देते। वैसे ही आचार्य देव का प्रवचन पूरा हुआ ही नहीं कि वे खड़े हो गये आप और त्याग कर दिया। मैं यह बात इसलिए बता रहा हूँ कि आप इस कथन की महिमा को समझें कि कैसे सद्गुरू का एक वचन भी कल्याण कर सकता है। बहुत–सारे व्याख्यान सुने किन्तु वचनों पर विचार नहीं हुआ। हवा की तरह वे निकल गये। हवा में सुनने से कल्याण नहीं होता। किन्तु एक वचन भी ध्यान से सुना, अंतर से सुना ऐसे जैसे कोई तीन दिन का भूखा हो और उसे गरम–गरम हलुआ मिले और वह उसे पूरी भावना से गले में उतारता जाय, चबाने की जरूरत ही नहीं। मुँह में ले और सटाक से नीचे उतार लें। और एक वह जिसे बराती बन कर जाने का मौका मिले, भूख नहीं हो परन्तु जबरदस्ती भोजन करवाया जाये, कोई आये मुँह में कौर दे, कोई सामने से तो कोई पीछे खड़ा रहकर। आजकल यह प्रवृत्ति कम हो गई पर बीकानेर की तरफ पहले बहुत थी कि भोजन पूरा हो जाता तो सगा जी आते, कंधों को पकड़ कर और थोड़ा हिलाकर दो–चार कतली मुँह में ठूंस देते। वे लोग खाना भी जानते थे। वे पहले ही सावधान रहते थे कि यह क्रिया होगी। सुवह डट कर भोजन कर लिया तो फिर शाम को गुंजाइश नहीं, फिर जवरदस्ती खाये तो उल्टी से बाहर आ जाये पर उतरेगा नहीं, अटकता लगेगा। क्योंकि पहले से पेट भरा था। वहीं यदि कोई व्यक्ति तीन दिन से भूखा है तो ठंडी–वासी रोटी भी उसे स्वादिष्ट लगती है। उसी प्रकार जिसकी यथार्थ में तत्त्व की भूख होती है, जहाँ तत्त्व पहले श्रवण किया हुआ नहीं होता जो ज्ञान का भूखा होता है, वह तत्त्व की वात गटागट नीचे उतार लेता है। उसकी मनुहार नहीं करनी पड़ती। आजकल की हालत है, विवाह तो क्या, दीक्षा के लिए भी पहले मनुहार पत्रिका फिर पत्रिका उसके वाद जाकर कहो–पधारना। तव जाकर कहीं वनती है पधारनें की मानसिकता। विचार कीजिये धर्म के मामले में भी मनुहार। विवाह में तो होती है पर आज धर्म में भी मनुहार विना काम नहीं चलता। यदि जाकर कह दें कि आने वाले रविवार को दया करना है, लेकिन मनुहार नहीं करें तो देख लो कितने नाम लिखाते हैं। और जवरदस्ती करें तो कहेंगे लिखा लो क्या यही तरीका है ? यह नहीं कि यदि समय निकल गया तो फिर क्या हाथ आने वाला है। राई

के भाव रात में ही गये। आगे बढ़कर नहीं लिखाएंगे पर मनुहार करे तो कहेंगे–वावजी ! होगा तो कर लेंगे, और तो जाने दीजिये, कभी सामायिक के लिए प्रेरणा दें तो कोई तो एक बार में हाँ कर देगा, कोई कहेगा हाँ कल से कर लूंगा। और कल, आप जानते हैं, की कभी आता नहीं। विचार कीजिये एक वचन यदि वही तीसरी मूर्ति की तरह कानों से अंतर में उतर जाय तो आत्मा का कल्याण करने वाला बन सकता है। सुबाहु के लिए वह एक वचन संसार परिन्त्त करवाने वाला, आराधना करवाने वाला, 15 भव वाद मुक्ति दिलाने वाला बन गया। और वे सुधर्मास्वामी जंबू से कहते हैं।

सुयं मे आउसं.....। मैने इधर–उधर घूमते, झांकते हुए नहीं सुना, वल्कि उनकी चरण–उपासना करते हुए सुना है। चरण–उपासना कैसे करते हैं ? आप भी करते हैं तो म.सा. के पैर पकड़कर रगड़ी पट्टी तो करते हैं पर क्या इससे हो जाती है चरणोपासना ? बाहर के चरण नहीं, तीर्थकर देवों के चरण–श्रुत और चरित्र–धर्म की उपासना–आसेवना करते हुए, मन –वचन–काया को प्रभु महावीर के दोनों चरणों में नियोजित करके, मैंने भगवान के वचन सुने हैं और जो सुना है वही तुमसे कह रहा हूँ। यहाँ बैठने वाले श्रोताओं से कह दिया जाय कि जो सुना है, उसे हूबहू वापस सुना दीजिए तो क्या वे हूबहू सुना पायेंगे ? हो सकता है कोई सुना भी दे किन्तु कठिन अवश्य है। इसका कारण क्या है ? हमारी पर्युपासना सही नहीं है। हम सुनते जरूर हैं पर मन निखरा रहता है तो आधी पल्ले पड़ती है, आधी नहीं। इसलिए सही तरीके से सुन नहीं पाते। यही कारण है कि आज तक संसार में भटक रहे हैं। भगवान महावीर की आत्मा के साथ हमारा संबंध रहा, दोस्ती रही घुले–मिले–खेले किन्तु वह आत्मा तो मोक्ष में पहुँच गई और हम यहीं के यहीं पड़े रह गये। इसलिए गुरु–वचन सुनना है तो तादात्म्य भाव उत्पन्न हो जाना चाहिये। और यदि परिचर्या कर रहे हो तो वह भी ऐसी हो कि उसी में तन्मय हो जाओ।

कहते हैं कि आचार्यश्री उदयसागरजी म.सा. के पास एक विनयवान संत थे। एक प्रवुद्ध व्यक्ति आचार्यजी के पास दर्शनार्थ आए वातचीत में पूछा कि मैं विनय का स्वरूप जानना चाहता हूँ। आचार्यश्री उदयसागरजी महाराज ने संत को आवाज दी। संत आये, हाथ जोड़कर खड़े हो गये। आचार्यश्री के सामने मास्टर जी वैठे थे। वे वात कर रहे थे। संत थोड़ी देर खड़े रहे, फिर वापस ठिकाने जाकर वैठ गये। जैसे ही वैठे, वापस आवाज आई–वापस आये। पर आचार्य श्री वात कर रहे थे तो वे फिर वापस चले गये। वापस आवाज दी अभी वैठने की तैयारी कर रहे थे कि आवाज आ

गई। कहा जाता है 27 बार आवाज दी जाती रही और वे चरण सन्तिधि में पहुँचते रहे। पर एक बार भी यह नहीं कहा कि गुरुदेव बार–बार याद करते हो, पर कुछ बोलते नहीं हो। गुरु बात में लगे है तो चले गये। अंततोगत्वा आगंतुक को कहना पड़ा कि गुरुदेव मैंने देख लिया, विनय कैसे होता है । भगवान महावीर ने अपने ज्ञान में देखा और अनुभव किया कि मुझे विनय का स्वरूप प्रस्तुत करना है। 'तो कहा, संजोगा विप्पमुक्कस्स अणगारस्स भिक्खुणो विणंय पाड़कीरस्सामि,आणुपुव्विं सुणेह में मैं विनय का स्वरूप कहूंगा किन्तु उन्होंने केवल पोथी के बैंगन नहीं बताये। पोथी के बैंगन कुछ और खाने के कुछ। पूज्य गुरुदेव फरमाते थे–एक पंड़ितजी जिनको बैंगन प्रिय था। उन्हें सभा में आमंत्रित किया गया और कहा गया कि बैंगन में जो दोष हैं, उन पर व्याख्यान करना है। वे लच्छेदार भाषा में बैंगन के दोष बताते गये। लोग तालियाँ पीट रहे थे कि कितनी मार्के की बातें कह रहे हैं। उनकी पुत्री भी प्रवचन में आई हुई थी। प्रवचन पूरा हुआ वह सीधी घर पहुँची, और माता से पूछा माता आज कौनसी सब्जी बन रहीं है ? माँ ने कहा–इसमें पूछने की क्या बात है, तुम्हारे पिताजी को बैगन प्रिय हैं, वह न मिले तो रोटी गले के नीचे न उतरे। पुत्री ने कहा–माँ आज भूलकर भी बैंगन मत बनाना। उन्हें अपूर्व ज्ञान पैदा हो गया है। उन्होंने उसके दोष बताये हैं। माता अपने पति का स्वभाव जानती थी। उसने दूसरा साग बना दिया। पंडितजी भोजन करने बैठे तो थाली में उनका प्रिय साग नहीं था। ललाट पर सल पड़ गये। नाक सिकोड़ने लगे, आँखों से अंगारे बरसने लगे। बोले–मैं यह क्या देख रहा हूँ ? धर्मपत्नी ने कहा आपकी पुत्री ने मना कर दिया, मैं तो बना रही थी। आक्रोश पुत्री पर उतर गया। वह घबराई फिर भी हिम्मत करके कहने लगी आप ही तो बता रहे थे कि बैंगन खराब चीज हैं। पंडित जी को बात याद आ गई। कहने लगे–अरे ! वे तो व्याख्यान के बैंगन थे। व्याख्यान के बैंगन और होते हैं, खाने के और होते हैं ऐसी स्थिति चले तो मानसिकताएँ खंडित होती रहेगी। भगवान महावीर का उपदेश क्रियात्मक था। उत्तराध्यन सूत्र में विनय का स्वरूप प्रतिपादित करने के साथ ही उन्होंने गौतम स्वामी के विनय का क्रियात्मक आदर्श प्रस्तुत किया। गौतम स्वामी को आदेश दिया कि देवशर्मा ब्राहम्ण को प्रतिबोधित करना है। गौतम स्वामी ने बिना तर्क किए भगवान के अंतिम समय को जानते हुए भी आज्ञा की विनयपूर्वक आराधना की। इस प्रकार भगवान ने विनय को केवल शास्त्रों में ही नहीं दर्शाया अपितु जीवन्त विनय को प्रस्तुत किया। उस आज्ञाराधना से गौतम स्वामी एक वार तो भगवान के

निर्वाण का दृश्य देखने से वंचित रह गए किन्तु भगवान के निर्वाण के कुछ ही क्षणों के पश्चात् वे स्वयं केवली वन गए तथा भगवान महावीर ही नहीं, अनन्त तीर्थकरों के निर्वाण के दृश्य के द्रष्टा वन गए। इसलिए कहा गया हे कि गुरु–स्वधर्मी की सेवा वनें तो वह प्रशस्त कार्यों की संपादक वन जाती है।

"अभ्यासेन क्रिया सर्वा।"सेवा कार्य कठिन अवश्य है पर नितिकर कहते हैं–

अभ्यास से सव–कुछ हो सकता है। देख लिजिये छोटे–छोटे संत किस प्रकार सेवा करते हैं, क्योंकि उनका जीवन उसी प्रकार से ढल गया होता हे सेवा धर्म के प्रति लगाव वनायें क्योंकि ऐसा मौका कहाँ मिलता है। छोटे–छोटे वच्चों के मन में धर्म के संस्कार भरें। धर्म के संस्कार होने से सेवा के प्रति भी भावना वनती है। जो हमारे सम्पर्क में आए उनमें धर्म के प्रति रुचि वढ़ायें। कोई आगे वढ़े तो प्रोत्साहित करें। छोटे–छोटे वच्चों को धर्म से जोड़ें। प्रतिक्रमण में छोटे वच्चों को प्रोत्साहित करें कि जितना तुम्हें याद है उतना तुम वोलो। नई कोंपलों को विकसित करना है इसका ध्यान रखें। प्रत्येक क्षेत्र में युवाशक्ति जागृत हो जाय तो जैन धर्म आलौकिक रूप में 21वीं सदी में प्रवेश करेगा। नहीं तो क्या स्थिति है, कहने की आवश्यकता नही। शास्त्रकार स्वयं कहते हैं–केवल गुरु का नहीं गुरु व स्वधर्मी की सेवा–परिचर्या भी करना। आप यदि सोचें कि कोई वीमार पड़ जाये तो सेवा करें तो समझ लीजिये कि वही सेवा नहीं है। पुराने समय के श्रावकों का वर्णन आता है कि व्यापार के लिए जाते थे, तो नगर में घोषणा करवाते थे कि "हम जा रहे हे। कोई चलना चाहे तो चले। सम्पत्ति नहीं हो तो सम्पत्ति दी जावेगी। आप व्यापार करना। 12 वर्ष में कमा ले तो दुगुनी लौटा देना। अन्यथा मूल पूंजी लौटा देना और यदि मूल भी खों गई तो मॉग नहीं की जायेगी, कोई कोर्ट–कचहरी नहीं।

क्या यह स्वधर्मी सेवा नहीं थी ? आज हम किसी स्वधर्मी की सेवा की तैयारी करेगें तो उससे पूर्व कितने फोटो खिचवायेंगे सोचने की वात है कि अंतरंग कितने कागज़ो पर हस्ताक्षर करवाएंगे ? भाव से सेवा करने वाले कितने मिलेंगे ?

वंधुओ ! समय चला जाता है, वात रह जाती हे ! संपत्ति वहुतों को मिली है पर उसका उपयोग पुण्यवान ही कर पाते हैं। पुण्य से पुण्य वढ़ायें तो उसकी सार्थकता है। नही तो मगध सम्राट श्रेणिक रत्नकंवल खरीद नहीं पाया। व्यापारी 16 कम्वल लाये पर राजगृह में कोई और तो क्या स्वयं सम्राट नहीं खरीद पाये। पर जव वे ही भद्रा के यहाँ पहुँचे तो उसने सारे

कम्बल खरीद लिये, हालांकि उन्हें आवश्यकता नहीं थी, पर लगा कि व्यापारी बाहर के हैं, यहां उनका माल नहीं बिकता तो राजगृही की बदनामी होगी। 'जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि–गरीयसी'।

जैसे माता का स्थान होता है वैसे ही उस भूमि, का जिस भूमि पर जन्म लिया होता है। जिसे उस भूमि की बदनामी सह्य नहीं हो सकती तो उसे माता की बदनामी कैसे सहन होगी, और क्या वह धर्म की बदनामी सहन करेगा ? आपने सुना होगा कि, झगडूशाह और भामाशाह जैसे नररत्न हुए हैं जिनका आज भी नाम लिया जाता है। आप भी उन शाहों की संतान हैं, पर विचार कीजिये कि क्या आप वस्तुतः धर्म–संस्कृति की रक्षा में लगे हुए हैं या उसकी धज्जियाँ उड़ाने में ? यदि हम धज्जियाँ उड़ायेंगे तो कौन रक्षा करेगा ? द्रोपदी का चीरहरण करने का प्रयास किसने किया था और कैसे किया था ? आज ये बातें कथा,टी.वी. फिल्म या शास्त्रों की रह गई हैं, पर आज धर्म–संस्कृति का चीर–हरण किया जा रहा है, उसे नोचा–खसोटा जा रहा है फिर भी यदि हम कान में तेल डाले सोये रहे तो क्या धर्म की दुहाई देकर, धर्म के पालन में सफल होंगे ? यदि पड़ोसी–स्वधर्मी भूखा –प्यासा पड़ा रहे और आपके घर में सम्पत्ति का अंबार लगा रहे तो आपका सम्पत्तिशाली होना गौरव है या लांछन है ? जिस कौम का एक भी व्यक्ति हाथ पसारे जबकि उस कौम के पास अरबों की सम्पत्ति है तो वह लांछन है, उस कौम पर। एक तरफ कितने व्यक्ति दानों के लिए मोहताज हैं, और दूसरी तरफ कितना अन्न जूठन में जा रहा है ! क्या कहें, गले तक पानी आ गया है। हम तो गाँव–गाँव घूमते हैं और देखते हैं कि जिस समाज में त्याग–उदारता का पाठ पढ़ाया जाता है वह संकीर्णता की मानसिकता में जी रहा है। चमड़ी जाये तो जाये पर दमड़ी नहीं जानी चाहिए। चमड़ी ऐसे ही नहीं जायेगी, तुम्हारी इज्जत लेकर जायेगी। एक व्यक्ति कर्जा लेकर जा रहा हो तो पत्रिका में प्रकाशित करा देंगे कि मैंने उसे सहयोग दिया है। कहाँ तो पूर्वजों ने दरवाजे खोल दिये थे और कहाँ आज के लोगों की ऐसी संकीर्णता। उदारदिली होती है जैन में। जैन का मन संकीर्ण नहीं होता। भोग नहीं, त्याग के जिसके मन में भाग जगें वह जैन है। सम्पत्ति बहुत है पर गुरु व स्वधर्मी की सेवा नहीं की तो क्या लाभ उठा पाएंगे ! अखवारों में भले ही मोटे–मोटे अक्षरों में नाम छपा लें पर वे तो काले अक्षरों में होंगे। गुरु और स्वधर्मी की सेवा की भावना से काम करें तो नाम स्वर्ण अक्षरों में लिखे जायेंगे नहीं तो काले अक्षरों में। धर्म के स्वरूप को पहचानिये। केवल मुंहपत्ती सामायिक, पौषध...से कुछ नहीं होगा। ये मत समझना कि महाराज

सामायिक पोषध आदि की निन्दा कर रहे हैं। मैं निन्दा नहीं, उनकी बढ़ोतरी चाहता हूँ। पर ये नहीं कि दिल के दरवाजे बंद करके यह कार्य करें। वे खुले रहें जैसे तुंगिया नगरी के श्रावकों के दिल के दरवाजे खुले थे। आज दिल के दरवाजे बंद हैं तो मकान के भी बंद है। संत जायें तो खट–खट करें, तब खुलें। यदि दिल में त्याग है, उदारता है तो भय की आवश्यकता नहीं। तब सम्पत्ति से लगाव होगा नहीं। सम्पत्ति तो माध्यम है, पर व्यक्ति सोचता हैं–मैं सम्पत्ति का मालिक हूँ। कितनी गजब की बात है! कितनी गलत बात है। पर कौन कहे ? युवाओं को कमर कस कर तैयार होना चाहिये। धार्मिक, व्यावसायिक सामाजिक, सभी क्षेत्रों में ऐसी सेवा का लक्ष्य बने। धर्म, 'गुरु व स्वधर्मी की सेवा करेंगे तो वह तीर्थंकर नाम उपार्जन कराने वाली बन सकती है। बशर्ते वैसा उल्लास भी जगे। वैसा रस आ जाये तो फिर देखिये चारों तरफ आनन्द ही आनन्द होगा, नहीं तो इधर सुना, उधर निकाल दिया तो कुछ होना नहीं है। आप चिन्तन–मनन करें। जितने भी श्रोता हैं, अपने–अपने घट में चिन्तन करें कि हम धर्म की बात ही नहीं धर्म का आचरण करें। यदि नल में पानी आगे नही, बढ़ रहा है तो कहां रुकावट है इसकी खोज करें। संकल्प बल मजबूत करें तो क्या नहीं किया जा सकता है। आने वाला समय युवा वर्ग की जागृति की राह देख रहा है। उसी की जागृति से धर्म में रौनक आ सकती है युवावर्ग अपने दायित्व को समझे और उसकी पूर्ति की दिशा में अग्रसर हो।

14.8.2000

अप्पा खलु सययं रक्खियव्वो

सुमति चरण कज आत्म अर्पणा................ ।

चरम तीर्थेश प्रभु महावीर का शासन प्रवर्तमान है और इस शासन में अनेकानेक भव्यात्माओं का संरक्षण हो रहा है। अनेकानेक भव्यात्मायें तीर्थकर देवों के उन उपदेशों से अपनी आत्मा की सुरक्षा करने में तत्पर बनी हुई है। रक्षा का भाव अनादि कालीन है। रक्षाबन्धन पर्व यह ऐतिहासिक है या प्रागैतिहासिक इस संदर्भ में जो तथ्य उपलब्ध हैं उनके आधार पर अनुसंधान करने की आवश्यकता हैं। हम आज समझकर चलते हैं कि राखी बांधने के लिए मुहूर्त होता है। कितने बजे का है ? बताया जा रहा है कि आज एक बजकर 45 मिनट पर मुहूर्त आता है। क्या होता है राखी बांधने से ? कौन बांधता है राखी ? इन बातों को जानने का हम प्रयत्न नहीं करते। होता प्रायः यही है कि सर्प चला जाता है हम लाठी पीटते रहते हैं। लकीर के फकीर बने रहने का अभ्यास रहा है हमारा। जैसा देखते हैं वैसा मान लेते हैं कि बहन भाई के रक्षासूत्र बांधती है किन्तु बहनें ही बांधती है इसका क्या प्रमाण है ? कब से यह परम्परा चली हैं ? इन बातों का अन्वेषण करने से कुछ महत्त्वपूर्ण तथ्य उद्‌घाटित होते है।

मनुस्मृति प्राचीन ग्रन्थ है। वह कहता है कि स्त्री को कभी स्वतंत्र नहीं रहना चाहिये। इसके साथ ही यह भी बताया है कि स्त्री की तीन अवस्थाएं होती हैं बचपन, जवानी तथा बुढ़ापा। वह बचपन में पिता द्वारा, जवानी में पति द्वारा और बुढ़ापे में पुत्र द्वारा रक्षित होती है। तीनों अवस्थाओं में वर्तमान में प्रचालित रक्षा पर्व का संबंध प्रकट नहीं होता है ? बचपन में पिता संभालता है, जवानी में पति और बुढ़ापे में पति न रहे तो सुरक्षा की जवाबदारी पुत्रों पर होती है। भाई पर बहन की रक्षा का कोई

दायित्व नहीं दर्शाया गया है।

वैदिक संस्कृति में यदि कोई प्राचीन से प्राचीन सूत्र दृष्टिगोचर होता है तो वह है भविष्यपुराण का यह श्लोक

येन वद्धो वलीराजा, दानवेन्द्रो महावलः।
तेन त्वां प्रतिवध्नामि, रक्षे ! मा चल मा चल।।

ब्राह्मण भी राखी वांधते समय इसी श्लोक का उच्चारण करता है। पर उसे भी अर्थ आता है या नहीं ? यह विचारणीय है। वहाँ जिस प्रसंग पर यह श्लोक आया है वह प्रसंग इस प्रकार है कि महावली सम्राट वली वहुत दानी था, कोई भी याचक आये तो द्वार से खाली नहीं जाता। इससे इन्द्र का आसन हिलने लगा तो देव विष्णुजी के पास पहुँचे। विष्णु देवों की रक्षार्थ वामन आकृति वाले ब्राह्मण का रूप बनाकर वलि के द्वार पर पहुँचे। वलि ने कहा–जो मांगोगे वह दूंगा। वोलो क्या चाहते हो ? वामनरूप विष्णुजी ने कहा–साढ़े तीन गज जमीन। वलि सहर्ष देने को तैयार हो गया। वामन रूप धारी विष्णु ने देवशक्ति से विराट रूप का निर्माण कर लिया जिससे तीन पैरों में तीन लोक समा गये।

ब्राह्मण रूपधारी विष्णुजी ने कहा आधा पैर वचा है, इसे कहां रखूं ? वलि ने कहा–मेरे पास अव कुछ नहीं है, मेरे सिर पर पैर रख दे। विष्णुजी ने उसके सिर पर पैर रखा जिससे वह पाताल में पहुँच गया। इस तरह विष्णु ने वली को संकल्प रूपी रक्षासूत्र से इस प्रकार वांधा कि वली को विवश होकर देवताओं की रक्षा हेतु परोक्षतः प्रस्तुत होना पड़ा। कहीं ऐसा भी वतलाया जाता है कि विष्णु ने वलि को पाताल में वरुणपाश (रस्सी) में वांध दिया और वैसे ही मैं भी तुम्हें वांधता हूँ। आज राखी वंधाने वाले उस प्रकार से वंधना तो नहीं चाहते हैं। पर परम्परा चल पड़ी और वह श्लोक दोहराया जा रहा है। हमने न आदि की खोज की न अर्थ विन्यास किया इस श्लोक में रक्षा की, वात इस रूप में जुड़ती है कि विष्णु ने इन्द्र आदि की रक्षा की अन्यथा वलि इन्द्र का साम्राज्य हडप सकता था।

दूसरा प्रसंग और आता है कि जिस समय इन्द्र वलि राजा से युद्ध की तैयारी करते हैं उस समय शची (इन्द्र की रानी) ने यह सोचकर कि दानवो के भीतर भी वहुत शक्ति है, इन्द्र का तिलक कर हाथ मे रक्षा सूत्र बांधती है। अपने सुहाग के लिए अपनी शक्ति का भी इन्द्र मे समायोजन करती है। भारतीय संस्कृति मे नारी को शक्ति का प्रतीक माना है, यह वात अलग है कि वे अपने को अवला मानने लगी है। उस शक्ति के सूत्र को शची इन्द्र के साथ सयुक्त करती है ताकि युद्ध मे इन्द्र की पराजय न हो।

कहा जाता है कि उसी शक्ति के कारण इन्द्र सुरलोक में रहने वाले अमृत की दानवों से रक्षा कर पाये हैं। नहीं तो दानव चाहते थे कि हम अमृत पीलें और पीकर अमर बन जायें। वहाँ जो कथा कही गई है, उस आधार से कथन कर रहा हूँ। इस में भी कहीं रक्षा सूत्र में भाई–बहन का संबंध प्रकट नहीं होता। लगभग 800 वर्षों से ही यह इतिहास प्राप्त होता है कि इस त्यौहार पर बहिन भाई के राखी बांधती है। बांधने के उद्देश्य के रूप में जितनी भी बातें हमारे सामने आती हैं वहाँ अबला का भाव उभरता है कि वह अपनी रक्षा के लिए आश्रित है। जरा अपने विचारों को बदलिये। यह समझकर अभिमान मत कीजिए कि हम बहिन की रक्षा करने वाले हैं। पर हृदय पर हाथ रखकर देखिये कि कितनी रक्षा कर पा रहे हैं। यदि बहिन अमीर है तो उसके ससुराल पहुँच जाएंगे। और यदि गरीब है तो घर पर भी आजाये तो सीधे तरीके से राखी बंधवाने के बजाय कुछ जली–कटी सुना देगें। भाई न सुनाये तो भाई की कंपनी सरकार (पत्नी) सुना देगी। "राखी क्या बांधनी है इस निमित्त 25/50 रुपये लेने आई है।" दुनियां देखने वाले जानते हैं कि अमीर बहन के यहाँ जायेंगे तो किस रूप में और गरीब बहिन घर आई है तो कितने ताने सुना देंगे। उस बहन के मन में तो प्रेम है, स्नेह है कि भाई के आज के दिन राखी बांध दूं। वचन के तीर उसके हृदय में चुभते हैं, फिर भी सहन कर वह राखी बांधने पहुँच जाती है। आपको विचार यह करना चाहिये कि यह शक्ति स्वरूपा है। यह राखी बांधती है अपनी सुरक्षा के लिए नहीं किन्तु इसलिए बांधती है कि हमारी हर कार्य में विजय हो। भाई हर कार्य में सफल हो। कभी उसे गरीबी/पराभव का मुख न देखना पड़े। इसी भावना से बहिन भी बांधे और भाई भी उसी भावना से रक्षासूत्र का सम्मान करे तो एक भव्य स्वरूप निखर सकता है, पर उल्टी गंगा बहती रही है। भाई सोचता है कि आई है तो राखी बंधाकर 5/10 रुपये देकर पिंड छुड़ा लो। किन्तु इतिहास की दृष्टि से देखें तो इस पर्व पर कहीं भाई–बहन का संबंध ज्ञात नहीं होता है।

जब नागौर पर बहादुरशाह के द्वारा युद्ध के बादल मंडराये जाने लगे तब करणावती ने देखा कि कहीं नागौर शत्रु के हाथ में न चला जाये। वह हूमायूँ को राखी भेजती है। कहते हैं वे गुजरात विजय के लिए युद्ध की तैयारी कर रहे थे, पर रक्षासूत्र मिला तो भारतीय संस्कृति के इस पवित्र सूत्र को सम्मान देकर वे उधर से मुड़ जाते हैं और नागौर की रक्षा करते है। पर आज जिस तरीके से यह पर्व मना रहे है उसमें बहिन–भाई के या ब्राह्मण यजमान के, दुकानदार पेन–कलम, गज–मीटर के राखी बांधता है। और

गज–मीटर से अपनी सुरक्षा चाहता है। तराजू पर राखी वांधकर वह कम तोलेगा या सही तोलेगा। वह अपने ईमान की रक्षा नहीं कर पाता तो तराजू में राखी वांधने से क्या फायदा ? रक्षासूत्र वांधकर आप संकल्प करें कि यह तराजू नाप–तोल में किसी का गला नहीं काटेगी। झूठा तोल–झूठा माप नहीं करेंगे तो हम भ. महावीर की आज्ञा–आराधना कर पाऐगे पर लोग राखी वांधकर अपने स्वार्थ की पूर्ति चाहते हैं। यह स्वार्थकारी प्रवृत्ति के पोषण का दिन नहीं है। आज के दिन संकल्प करें कि जिससे आत्मा का पतन हो ऐसा काम नहीं करेंगे तो हम रक्षासूत्र से आत्मा की रक्षा कर पाऐगे, नहीं तो ये राखी जिसे उल्टा कर दो तो बनेगा खीरा और रक्षा का उल्टा क्षार यानी गरीव वहन के दिल पर खीरा (अंगारा) क्षार डालते रहे तो ऐसी स्थिति में यह पर्व आत्मसुरक्षा का निमित्त नहीं बन पाएगा वल्कि आत्मा को गिराने वाला ही वनेगा।

जैन इतिहास में इसी रक्षा से जुड़ा प्रसंग इस प्रकार से मिलता है। नमूचि जैन मुनियों से द्वेष करता था। और किसी उपाय से सम्राट से एक सप्ताह के लिए राज्य प्राप्त कर लेता है। उधर स्वाध्याय करते हुए आचार्य श्री की आकाश में दृष्टि गई तो वे कहते हैं–"अहो कष्टं–अहो कष्टं"। शिष्य कहने लगे–"गुरुदेव ! क्या वात है ?" आचार्यश्री "जिन शासन पर/साधु समाज पर भयंकर संकट आने वाला है"। हमारा दिल प्रकंपित हो या न हो पर आकाश में रहने वाले देवों का दिल प्रकंपित हो जाता है। इतिहास साक्षी है कि अश्वग्रीव युद्ध के लिए जाने लगा तो कुत्ते ऊपर मुँह करके रोने लगे, आज भी कुत्ते कहीं रोने लगें तो लोग भगाने के लिए तैयारी करते है। अरे भाई ! उन्हें भगाने से क्या होगा ? आने वाले अशुभ संकेतों को समझकर सम्भावित दुर्घटनाओं से सुरक्षा की तैयारी करो किन्तु लोग वैसा तो नहीं करते पर उन्हें भगाने लगते हैं। वह तो संकेत दे रहा है मानों उसके दिल में दर्द होता है कि मैंने इसका नमक खाया है। रोटी खाई है। इसलिए आनेवाली आपत्ति की सूचना दे देता हूँ। पशु तो फिर भी वफादारी निभाता है पर मनुष्य जिस थाली में खाता है उसी में छेद करता है। जिस शाखा पर वैठा है उसे काटने लगता है। यह उसकी वुद्धि का अतिरेक है जिससे वह नीति से भी किनारा कर लेता है। उसे ज्ञात नही की छेद करूंगा तो भोजन नीचे धूल मे मिल जायेगा। जैसे विल्ली करती है–दूध पी न सके तो विखेर देती है। वैसी ही हमारी हालत है–खा न सकूं तो खराव कर दूं। जब खरी वात सामने आती है तो लग सकता है कि महाराज कैसी वातें कह रहे है। कहना भी आवश्यक है। मुंह देखकर तिलक तो निकाल

कहा जाता है कि उसी शक्ति के कारण इन्द्र सुरलोक में रहने वाले अमृत की दानवों से रक्षा कर पाये हैं। नहीं तो दानव चाहते थे कि हम अमृत पीलें और पीकर अमर बन जायें। वहाँ जो कथा कही गई है, उस आधार से कथन कर रहा हूँ। इस में भी कहीं रक्षा सूत्र में भाई–बहन का संबंध प्रकट नहीं होता। लगभग 800 वर्षों से ही यह इतिहास प्राप्त होता है कि इस त्यौहार पर बहिन भाई के राखी बांधती है। बांधने के उद्देश्य के रूप में जितनी भी बातें हमारे सामने आती हैं वहाँ अबला का भाव उभरता है कि वह अपनी रक्षा के लिए आश्रित है। जरा अपने विचारों को बदलिये। यह समझकर अभिमान मत कीजिए कि हम बहिन की रक्षा करने वाले हैं। पर हृदय पर हाथ रखकर देखिये कि कितनी रक्षा कर पा रहे हैं। यदि बहिन अमीर है तो उसके ससुराल पहुँच जाएंगे। और यदि गरीब है तो घर पर भी आजाये तो सीधे तरीके से राखी बंधवाने के बजाय कुछ जली–कटी सुना देगें। भाई न सुनाये तो भाई की कंपनी सरकार (पत्नी) सुना देगी। "राखी क्या बांधनी है इस निमित्त 25/50 रुपये लेने आई है।" दुनियां देखने वाले जानते हैं कि अमीर बहन के यहाँ जायेंगे तो किस रूप में और गरीब बहिन घर आई है तो कितने ताने सुना देंगे। उस बहन के मन में तो प्रेम है, स्नेह है कि भाई के आज के दिन राखी बांध दूं। वचन के तीर उसके हृदय में चुभते हैं, फिर भी सहन कर वह राखी बांधने पहुँच जाती है। आपको विचार यह करना चाहिये कि यह शक्ति स्वरूपा है। यह राखी बांधती है अपनी सुरक्षा के लिए नहीं किन्तु इसलिए बांधती है कि हमारी हर कार्य में विजय हो। भाई हर कार्य में सफल हो। कभी उसे गरीबी/पराभव का मुख न देखना पड़े। इसी भावना से बहिन भी बांधे और भाई भी उसी भावना से रक्षासूत्र का सम्मान करे तो एक भव्य स्वरूप निखर सकता है, पर उल्टी गंगा बहती रही है। भाई सोचता है कि आई है तो राखी बंधाकर 5/10 रुपये देकर पिंड छुड़ा लो। किन्तु इतिहास की दृष्टि से देखें तो इस पर्व पर कहीं भाई–बहन का संबंध ज्ञात नहीं होता है।

जब नागौर पर बहादुरशाह के द्वारा युद्ध के बादल मंडराये जाने लगे तब करणावती ने देखा कि कहीं नागौर शत्रु के हाथ में न चला जाये। वह हूमायूँ को राखी भेजती है। कहते हैं वे गुजरात विजय के लिए युद्ध की तैयारी कर रहे थे, पर रक्षासूत्र मिला तो भारतीय संस्कृति के इस पवित्र सूत्र को सम्मान देकर वे उधर से मुड़ जाते हैं और नागौर की रक्षा करते है। पर आज जिस तरीके से यह पर्व मना रहे है उसमें बहिन–भाई के या ब्राह्मण यजमान के, दुकानदार पेन–कलम, गज–मीटर के राखी बांधता है। और

गज–मीटर से अपनी सुरक्षा चाहता है। तराजू पर राखी बांधकर वह कम तोलेगा या सही तोलेगा। वह अपने ईमान की रक्षा नहीं कर पाता तो तराजू में राखी बांधने से क्या फायदा ? रक्षासूत्र बांधकर आप संकल्प करें कि यह तराजू नाप–तोल में किसी का गला नहीं काटेगी। झूठा तोल–झूठा माप नहीं करेंगे तो हम भ. महावीर की आज्ञा–आराधना कर पाऐगे पर लोग राखी बांधकर अपने स्वार्थ की पूर्ति चाहते हैं। यह स्वार्थकारी प्रवृत्ति के पोषण का दिन नहीं है। आज के दिन संकल्प करें कि जिससे आत्मा का पतन हो ऐसा काम नहीं करेंगे तो हम रक्षासूत्र से आत्मा की रक्षा कर पाऐगे, नहीं तो ये राखी जिसे उल्टा कर दो तो बनेगा खीरा और रक्षा का उल्टा क्षार यानी गरीब बहन के दिल पर खीरा (अंगारा) क्षार डालते रहे तो ऐसी स्थिति में यह पर्व आत्मसुरक्षा का निमित्त नहीं बन पाएगा बल्कि आत्मा को गिराने वाला ही बनेगा।

जैन इतिहास में इसी रक्षा से जुड़ा प्रसंग इस प्रकार से मिलता है। नमूचि जैन मुनियों से द्वेष करता था। और किसी उपाय से सम्राट से एक सप्ताह के लिए राज्य प्राप्त कर लेता है। उधर स्वाध्याय करते हुए आचार्य श्री की आकाश में दृष्टि गई तो वे कहते हैं–"अहो कष्टं–अहो कष्टं"। शिष्य कहने लगे–"गुरुदेव ! क्या बात है ?" आचार्यश्री "जिन शासन पर/साधु समाज पर भयंकर संकट आने वाला है"। हमारा दिल प्रकंपित हो या न हो पर आकाश में रहने वाले देवों का दिल प्रकंपित हो जाता है। इतिहास साक्षी है कि अश्वग्रीव युद्ध के लिए जाने लगा तो कुत्ते ऊपर मुँह करके रोने लगे, आज भी कुत्ते कहीं रोने लगें तो लोग भगाने के लिए तैयारी करते हैं। अरे भाई ! उन्हें भगाने से क्या होगा ? आने वाले अशुभ संकेतों को समझकर सम्भावित दुर्घटनाओं से सुरक्षा की तैयारी करो किन्तु लोग वैसा तो नहीं करते पर उन्हें भगाने लगते हैं। वह तो संकेत दे रहा है मानों उसके दिल में दर्द होता है कि मैंने इसका नमक खाया है। रोटी खाई है। इसलिए आनेवाली आपत्ति की सूचना दे देता हूँ। पशु तो फिर भी वफादारी निभाता है पर मनुष्य जिस थाली में खाता है उसी में छेद करता है। जिस शाखा पर बैठा है उसे काटने लगता है। यह उसकी बुद्धि का अतिरेक है जिससे वह नीति से भी किनारा कर लेता है। उसे ज्ञात नहीं की छेद करूंगा तो भोजन नीचे धूल में मिल जायेगा। जैसे बिल्ली करती है–दूध पी न सके तो बिखेर देती है। वैसी ही हमारी हालत है–खा न सकूं तो खराब कर दूं। जब खरी बात सामने आती है तो लग सकता है कि महाराज कैसी बातें कह रहे हैं। कहना भी आवश्यक है। मुँह देखकर तिलक तो निकाल

नहीं सकता। यह काम तो आज के पर्व पर कई बहनें करती हैं। यदि अमीर भाई है तो राखी कैसी बांधती हैं और गरीब है तो कैसी बांधती है ? एक के लिए 25 रुपये खर्च कर देगी और एक के लिए ? बहनें भी देखेंगी कि कहाँ से कैसी आमदानी है। 100 देगें तो 25 खर्च कर दो और 5 देंगे तो एक रूपये में निपटा दो। जैसे बहनें मुँह देखकर तिलक निकालती हैं, वैसे ही आप चाहो कि जैसी हमारी परिपाटी चल रही है महाराज को भी वही बतानी चाहिए तो यही कहावत चरितार्थ होगी कि

हुँ न कहूँ तेरी, तू न कहे मेरी।
चलने दो ये मजेदार हथफेरी।।

यदि ऐसी हाथफेरी चलती रहे तो तीर्थंकर दोनों देवों की संस्कृति की रक्षा नहीं कर पाएंगे। और संस्कृति की रक्षा नहीं है तो अपनी भी रक्षा नहीं है। एक बालक हाथ में कुल्हाड़ी उठाये और पास में बैठने वाला सोचे कि उठाता है तो उठाने दो। वह नहीं देखे कि यह बालक है, इसनें कुल्हाड़ी उठाकर अपने पैरों पर पटक दी तो क्या स्थिति बनेगी। बालक अपने पैर पर मारे तब तो ध्यान न दे और वही पलट कर आपकी तरफ आये तो उसे झटका लगेगा कि यह कैसे पड़ौसी की आग आप के घर को जलाए, इससे पूर्व ही संभल जाने वाला यह चाहेगा कि संस्कृति की सुरक्षा में ही मेरी सुरक्षा है। इसी भाव से आपको खरी–खरी सुनाने का प्रसंग बन जाता है।

बन्धुओं ! हम अपनी वृत्तियों का परिमार्जन करने का संकल्प करें। ऐसा न हो कि गलत आदतों को पकड़ लिया तो लौह वणिक की तरह गलत ही बने रहें।

चार वणिक व्यापार हेतु वनमार्ग से जा रहे थे। कहीं लोहा पड़ा मिला। सभी ने ले लिया। आगे बढ़े तो क्रमशः चांदी, स्वर्ण एवं रत्नों के ढेर मिल गए। तीन व्यक्ति पुरानी वस्तु खाली करके नई लेते गए। एक वणिक ने लोहा नहीं छोड़ा। तीनों बनियों ने उसे समझाया, पर वह नहीं माना। शहर में पहुँचकर लोहा बेचा। थोड़े पैसे मिले जिससे मूंगफली–चने लेकर बेचता है। रत्न लेने वाले जौहरी बाजार में पहुंचे, रत्न बेचे, हवेली खरीद ली, व्यापार करने लगे। वह ठेला लेकर निकला मूंगफली लो, चने लो। सेठ ने देखा तो बुलाया और कहा–मुझे पहचाना ? वह कहता है–नहीं पहचाना। सेठ कहता है–हमने तुम्हें कहा था लोहा छोड़ दो पर तुमने लोहा नहीं छोड़ा। हमने लोहा छोड़ा और रत्न लिए तो इस स्थिति में पहुँच गये। अब वह कहता है कि हाय, मुझे यह अकल क्यों नहीं आई।

हमें पूज्य गुरुदेव ने शिक्षा दी है। मुँह मंगली बात नहीं करना है। जो बात सिद्धान्त के धरातल पर सही है उसे कहते हुए डरना नहीं है। डरना है तो पाप से डरो। सिद्धान्त से डरे तो उत्थान नहीं होगा। मैं बता रहा था कि आचार्य ने कहा–"बहुत कष्ट का प्रसंग है"। शिष्यों ने पूछा–गुरुदेव उस उपसर्ग से रक्षा का कोई उपाय है ? तो आचार्य ने कहाः– विष्णुकुमार मुनि में ऐसी शक्ति है, वह रक्षा कर सकता है।...... पर वह दूर है समाचार कौन दे ?" एक शिष्य ने कहा–"आपकी कृपा से इतनी शक्ति मुझे प्राप्त है कि मैं वहॉ पहुॅच सकता हूँ, पर आ नहीं सकता" आचार्य ने कहा–"इतनी शक्ति है, तो देर मत करो।" वे मुनि वैक्रिय शक्ति से विष्णु कुमार मुनि के पास पहुँचे और उन्हें समाचार दिए। इधर नमूचि साधुओं को समाप्त करना चाहता था। विष्णुकुमार मुनि पहुँचे और नमूचि से कहा मैं शिक्षा लेने आया हूँ। उसने कहा–मुझे जैन मुनि से द्वेष है। मैं तृण भी देना नहीं चाहता पर तुम सम्राट के भाई हो इसलिए तुम्हें दूँगा। बोलो क्या चाहते हो ? विष्णु कुमार मुनि ने कहा–"तीन पैर जमीन"। नमूचि–"अरे ! यह क्या मांगा। जाओ दिया।" ढाई पैर में उन्होंने पूरा राज्य माप लिया और आधा पैर बाकी रह गया। कथाओं में अंतर भी है जैसे नदी चलती है तो कही टेढ़ी होती है, कहीं वार तोड़कर वहती है वैसे ही कथाओं में भी फेर बदल हो जाता है। हमें कलेवर नहीं पकड़ना है, पर रक्षा कैसे बनी। विष्णु मुनि पहुंचे और सब की रक्षा की। वैसे ही हम आत्मा की रक्षा करें। दशवैकालिक सूत्र की चुलिका में कहा है कि– "अप्पा खलु सययं रक्खियव्वो" उसके लिए मर्यादा में जीना आवश्यक है।

हम मर्यादा में आवद्ध हैं तो वह मर्यादा हमारी रक्षा करेगी। मर्यादा आत्मा के लिए सुरक्षा कवच है। उसमें नहीं रहे तो कल्याण नहीं होगा। नदी दो तटों के वीच चले तो सर्जन करती है और तट को तोड़कर निकले तो वह पानी विप्पलव मचा सकता है। वैसे ही जीवन मर्यादा रूपी सुरक्षा कवच में चले तो सर्जन होगा। यदि हमने मर्यादा को तोड़ दिया, अनुशासन को तोड़ दिया, यद्वा तद्वा कर लिया तो सर्जन नहीं विध्वंस ही होगा और आप ही क्या, मैं अपने को भी अलग नहीं कर रहा हूँ। हम सन्त भी यदि तोड़ दे तो वह अकल्याणकर है। उपदेश पहले वक्ता के लिए है। आज के दिन हम सूत्र लें कि हम मर्यादा में आवद्ध रहें। मैं भी आप को राखी बांध दूं। दो प्रकार की स्थिति बनती है। एक तो भाई के वहिन राखी बांध देती है और यदि वहिन न हो तो वहिन का लड़का भी वांध देता है। वैसे ही समझ लो कि निर्ग्रन्थ श्रमण संस्कृति आपकी वहिन है, हम उसके

पुत्र हैं इसलिए हम बांध सकते हैं। एक तो इसलिए वांधे कि–

(1) आपका जीवन आध्यात्मिक सुरक्षा कवच में सुरक्षित रहे और दूसरा इसलिये कि (2) आप हमारी मर्यादाओं की सुरक्षा करें।

साधु की मर्यादा की जवाबदारी आप पर है उसमें कहीं खतरा न आवे। आँच आये तो उसे दूर करने में आप तैयार रहें। उस पर आँच नहीं आनी चाहिये। और कोई साधु स्वयं हाथ में कुल्हाड़ा लेकर पैर पर पटकना चाहे तो कहें–ना–ना, हम ऐसा नहीं करने देंगे। आपनें राखी बांधी है तो हम आपके पैर काटने नहीं देंगे। कभी हम ऐसा करें तो आप जाग्रत करिये। और कभी मुनि लौकेषणा में या युगप्रवाह में न बहे तो कुतर्कों का आश्रय लेकर मुनि को मर्यादा से नीचे उतारने का प्रयास न करें। यदि श्रावक हैं तो रक्षा करें। और हमारी रक्षा करेंगे तो हमें कहेंगे कि आप हमें व्याख्यान देते हैं तो आपका जीवन भी विशुद्ध रहना चाहिये। क्योंकि टंकी में जैसा पानी होगा, वैसा ही नल में आयेगा। इसलिये साधु जीवन में कहीं पर गन्दगी का मिश्रण न हो। गन्दगी मिल गई तो संस्कृति शुद्ध रूप में श्वास नहीं ले पाएगी।

आज श्रावणी पूर्णिमा है। एक बात और वैदिक संस्कृति में होती है। आज के दिन श्रावणी कर्म को महत्त्वपूर्ण माना है। क्या होता है–श्रावणी कर्म ? श्रावणी कर्म के पीछे संदर्भ जुड़ा है। आषाढ़ी पूर्णिमा को गुरु पूर्णिमा कहा जाता है। उस दिन शिष्य गुरूचरणों में आता है। वह अंधकार परिपूर्ण होता है। उस दिन आकाश में चन्द्र बादलों से घिरा रहता है। अन्धकार युक्त वह शिष्य पहुंचता है, वहाँ परीक्षण हुआ और आज के दिन गुरु उन शिष्यों को वेद–वेदांग का ज्ञान देते है उसकी आत्मा की रक्षा हो इसलिये आत्मा का बोध देते है। और जनेऊ संस्कार का विधिकार्य होता है इसलिए आज ज्ञान–ध्यान का, बुद्धि का, आत्म ज्ञान प्राप्ति का प्रसंग है जो वस्तुतः हमारी रक्षा से जुड़ा प्रसंग है।

आज तीसरा प्रसंग और भी है वह है स्वतन्त्रता दिवस का। क्या संबंध है इससे आपका ? इसका तो राष्ट्र से संबंध है। यदि आप से संबंध ही नहीं है तो चर्चा क्यों करें। और है तो छोड़ें क्यों। कभी हम सोच लेते है कि ये बाहर की बातें हैं। इनका धर्म से क्या संबंध ? किन्तु ध्यान रखें कि यदि संबंध नहीं होता तो भ. महावीर दस धर्मों का वर्णन क्यों करते ? पहले 8 अन्य धर्म कहे गये फिर श्रुत व चारित्र धर्म कहे गये। यदि राष्ट्रधर्म गणधर्म, कुलधर्म, संघधर्म की व्यवस्था सही नहीं है तो श्रुत व चारित्रधर्म की आराधना कैसे हो पाएगी ? युग द्रष्टा जवाहराचार्य ने कहा

कि–गुलामी की बेड़ियों में जो जकड़ा है वह धर्म की आराधना स्वतंन्त्रता पूर्वक कैसे कर सकता है इसलिए पहले कुल–गण–संघ–राष्ट्र की व्यवस्था सही होनी चाहिए। उनकी व्यवस्था के लिए 15 अगस्त को स्वतन्त्रता दिवस मनाया जाता है। 15 अगस्त को भारत आजाद हुआ। पुराने पन्ने यदि देखें तो ज्ञात होगा कि 14 अगस्त की रात्रि में 11 बजकर 59 मिनट पर ही भारत की स्वतन्त्रता के हस्ताक्षर हो गये थे। किन्तु अगला क्षण 15 अगस्त का था। इसलिए 15 अगस्त को स्वतन्त्रता दिवस मनाने की तैयारी करते हैं। भ. महावीर का कहना है–

"छंदं निरोहेण उवेइ मोक्खं"

स्वच्छंदता का त्याग करें। स्वतंत्रता क्या है और स्वच्छंदता क्या है ? इसकी लम्बी विवेचना है। उस विस्तार में अभी नहीं जा रहा हूँ किन्तु एक अन्य बात आपको पूछ लेता हूँ कि अभी भारत का राजा कौन है ? कहा जाएगा कि अटलबिहारी बाजपेयी (तात्कालिक प्रधानमंत्री) है। अटल बिहारी तो बेचारा एक मकान का भी मालिक नहीं है। वह एक मकान का उद्घाट्न करने गया तो उसने कहा कि मेरे पास खुद का मकान नहीं है, मैं दूसरे का क्या उद्घाट्न करूँ।

बोल–बोल भारत का राजा काई थारे मन में रे म्हाँसु मुड़े बोल...

कितना भार बढ़ा है मुझ पर, पश्चिम चाल क्यूं चलता रे। कत्ल खानों की बाढ़ डुबोती, मुझ अस्मिता रे।

भारत में राजतंत्र नहीं है कि अमुक राजा है तो उसका बड़ा पुत्र ही राजा बनेगा। यहाँ प्रजातंत्र है। यहाँ यह नहीं होता कि जब जिन्हें चाहें बिठा दें। इन पंक्तियों में भारत का राजा आपको (जनता को) कहा है। भारत माता क्या कह रही है ? पश्चिमी संस्कृति का कितना बोझ है उस पर ? कौनसी संस्कृति में जी रहे हैं ? आप कहेंगे कि जैन संस्कृति में किन्तु हमारा खान–पान, रहन–सहन कैसा है ? हाथ से खाने में शर्म आती है और मांसाहारी प्राणियों के नाखूनों के समान तीखे–तीखे नकुचे वाले कांटों से खाना खाने में हम अपना गौरव समझते हैं और बच्चों को भी यही सिखाते है धोती छूटी कुर्ता छूटा और शर्ट–पैंट आ गये। पहले बहनों के जूड़ा–चोटी थी, आज बाल कटवाए जा रहे हैं। यह पश्चिमी संस्कृति का भार ढो रहे हैं। किसी युग में एक बात कही गई थी। क्या कहा गया था उसे शायद आप भूल गये होंगे। सुनिये–

कहनी है एक बात मुझे,
इस देश के पहरेदारों से,

संभल के रहना, अपने घर में
छिपे हुए गद्दारों से, "
थोड़ी–सी बात बदल दें–
कहनी है एक बात मुझे,
इन धर्म के पहरेदारों से
संभल के रहना अपने घर में
छिपे हुए गद्दारों से।

आपसे ही कह रहा हूँ। हमारे घर में गद्दार छिपे हुए हैं। क्रोध, अहंकार, राग, द्वेष–ये गद्दार छिपे हुए हैं। धर्म की आड़ लेकर रहे हुए हैं और आत्मा को पतन में ढकेल देते हैं सी.आई.डी. एवं पुलिस भी जिनसे सुरक्षा न कर पाये ऐसे खतरनाक हैं ये।

कविता लम्बी है। इसमें कहा गया है कि भारत के सपूतों ! तुम मेरा क्या कल्याण करोगे। जिस भूमि पर तुमने जन्म लिया, करवट बदली। जहाँ एक समय दूध–दही की नदियाँ बहती थी। आज वहां कत्लखानों के कारण रक्त के नाले बह रहे हैं। एक दिन में कम से कम एक लाख पशु काटे जाते हैं। पूरे भारत में गायों की 27 प्रजातियाँ थी जिसमें आज 15 के लगभग ही रह गई हैं। ये भारतीय जीव पर्यावरण–सुरक्षा में सहयोगी है, पर जब वे समाप्त हो जावेंगे तब शायद उनका महत्त्व ज्ञात होगा कि वे पर्यावरण– सुरक्षा में कितना योगदान देते थे।

गांधी नेहरू बोस व बल्लभ, भगत चन्द्र और नाना रे
आजादी के परवानों को, भूल न जाना रे..................

गाँधी, नेहरू, सुभाषचन्द्र बोस, बल्लभभाई पटेल और नाना आदि आजादी के परवानों को आज हम भूल गये हैं। बंधुओ ! केवल भारत माता की जय, महात्मा गाँधी और नेहरू की जय बोलने से काम नहीं चलेगा। यदि भीतर में कुछ दम है तो संस्कृति एवं जन्मभूमि के लिए कुछ करने की तत्परता रखें।

रामजन्म भूमि की आड़ में, राजनीति का पाशा रे
कश्मीर री घाटियाँ में देखो बिछ रही लाशां रे......

रामजन्म भूमि के लिए क्या–कुछ स्थिति बनाई। आपसी विवाद बढाकर अपनी–अपनी रोटी सेकना चाहते हैं। कश्मीर की घाटियों में आये दिन लाशें बिछ रही हैं, उधर नजरे नहीं उठ रही हैं। और जहाँ कोई मतलब नहीं है ऐसे स्थानों पर ध्यान केन्द्रित है। अयोध्यावासी कहते है कि हम एक साथ उठते हैं, बैठते हैं, हममें विवाद नहीं है। और बाहर के लोग

आकर काम गड़वड़ कर देते हैं। ये राजनीतिक खेल कव तक चलते रहेंगे ?

नाना गुरू कहे जगो जवानों, निज करतब पहचानो रे

भारत की संस्कृति माही, 'राम' रमाओ रे..........

दिल की वात खोलकर रख देना चाहिये। जैसे मेरे मन की, दिल की वात खोलकर रख देता हूँ। वैसे ही आप भी खोलकर रख देना। मैं खुला आह्वान करता हूँ आप अपने सम्राट नहीं पर भारत के सम्राट बन चुके हो। यदि भारत के साथ अपने जीवन के राजा बन गए तो फिर देखिये कि क्या आनन्द की वंसी बजती है। वह कव बजेगी ? जव मन में ग्रन्थि, गांठ न रहे। जैसे मैं खुले दिल से कहता हूॅ वैसे ही आप मेरे भाई हैं तो दिल में कोई वात है तो खुले दिल से कहें। ये न समझें कि महाराज क्या सोचेंगे। मेरी वात होगी तो संशोधन कर लूंगा। आपके लिए भी द्वार खुला है। पॉच और पॉच दस की गणित की भांति, विषय समझें ताकि कहीं भ्रांति नहीं रहे। रक्षावन्धन, श्रावणी कर्म या स्वतन्त्रता दिवस के प्रसंग से कुल मिलाकर एक वात समझें कि हमें अपनी आत्मा की रक्षा करनी है। तीन प्रकार के व्यक्ति होते है–(1) जो स्वयं की रक्षा करते है (2)जो पर की रक्षा करते हैं। तथा (3) जो स्व–पर, दोनों की रक्षा करते हैं। इन तीनों में से हम किसमें आते हैं, यह चिन्तन कर लेना। पर्वों के निमित्त से अपने भीतर सद्‌गुणों का विकास करें। दुर्गुणों को प्रवेश नहीं करावें। यदि हमारे जीवन में एक भी दुर्गुण आ गया तो वह घुण के समान जीवन को खोखला वना सकता है। इस प्रकार यदि हम आत्म–सुरक्षा के लिए कटिवद्ध हो गये तो जीवन धन्य वन सकेगा।

15.8.2000

ढोल ने कहा—क्या बात कर रहे हैं ? परमात्मा ने उत्तर दिया—बात सही है। पूजा करने वाले यथार्थ में पूजा नहीं कर रहे हैं। जिस पूजा के साथ अनेक कामनाएँ जुड़ी हो जिस पूजा में सच्चा प्रेम सच्ची भक्ति सच्चा बहुमान नहीं है वह पूजा वस्तुतः पूजा नहीं होती और इसलिए यहाँ पहुंचने वाले जितने भी पूजा करते हैं वे केवल औपचारिकता का निर्वाह करते हैं। और वह पूजा की औपचारिकता मुझ तक पहुँच नहीं पाती। परिणामस्वरूप वे लाभाविन्त नहीं हो पाते। जिससे अपनी खीज निकालने के लिए तुम्हारी पिटाई कर देते हैं। किन्तु जो हृदय में मेरी पूजा करते हैं उन्हें तुमको या अन्य किसी को पीटने की आवश्यकता ही नहीं पड़ती। परमात्मा ने आगे कहा—सुनों, मेरे चरणों में वाचिक रुप से आत्मा की अर्पणा—सपर्पणा करने वालों की कमी नही है। ऐसी अनेक घटनाएं तुमने सुनी एक घटना सुनाता हूँ जब पांडव तीर्थयात्रा के लिये निकले तब श्रीकृष्ण से भी उन्होंने तीर्थाटन का आग्रह किया। श्रीकृष्ण उस औपचारिकता को समझ गए। उन्होंने पाण्डवों को टालते हुए कहा—मैं अभी कार्य में व्यस्त हूँ इसलिये चल नहीं पाऊंगा। ऐसा करो, मेरी एक तुम्बी को ले जाओ। इतना कहकर श्रीकृष्ण ने उन्हें एक तुम्बी दे दी। तुम्बी देने के साथ यह भी कहा जहाँ—जहाँ तुम तीर्थ करो मेरी तुम्बी को भी करवा देना। तुम जहां—जहां तीर्थ स्नान करो वहाँ—वहाँ मेरी तुम्बी को भी तीर्थ स्थान करवा देना। पाण्डव खुशी—खुशी तुम्बी ले कर चले गये और उसे तीर्थ करवाते रहे। तीर्थ स्नान भी करवाते रहे। तीर्थाटन से लौटे तो श्रीकृष्ण के चरणों में उपस्थित हुए और उन्हें उनकी तुम्बी सुपुर्द कर दी। श्रीकृष्ण ने कहा अच्छा अभी का भोजन आपको यहीं करना है। श्री कृष्ण के निर्देशानुसार उसी तुम्बी का शाग बनाया गया। पाण्ड़वों को वही शाग परोसा गया पाण्ड़वों ने जैसे ही वह शाग खाया वैसे ही थू—थू करके कहने लगे यह कैसा शाग परोसा गया। इसको कैसे खाएं ? यह तो बहुत कड़वा है। तब श्रीकृष्ण ने कहा—मेरे साथ धोखा क्यों किया ? पांडव आश्चर्य से कहने लगे धोखा और आपके साथ ? हम आपके साथ धोखा कैसे कर सकते है ? श्रीकृष्ण ने किञ्चित हास्यपूर्वक कहा—मैंने आपको तुम्बी दी थी, साथ में यह भी कहा था कि इसे तीर्थ करवाना व इसे तीर्थस्नान भी करवाना। फिर आपने तीर्थस्नान क्यों नहीं कराया ? तब पाण्डव कहने लगे—वासुदेव ! आप विश्वास कीजिये हमने पहले इसे नहलाया है। उस पर श्रीकृष्ण ने बोध करवाते हुए कहा कि फिर क्या कारण है कि नहलाने के बाद भी तुम्बी कड़वी की कड़वी रह गई। इस पर पाण्डव बोले आप भी कैसी बात कर रहे है ? स्नान करवाने से तुम्बी का [illegible]

अप्पाणमेव जुज्झाहि

हम भगवान् सुमतिनाथ के चरणों में आत्मा को अर्पित करते हुए प्रार्थना करते हैं—सुमति चरण कज आत्म अर्पणा...... विचार करें कि उनका सुमति नाम क्यों पड़ा ? कारण था जिस समय वे गर्भ में थे उस समय उनकी माता की मति सुमति हो गई थी। परिणामस्वरूप जो भी समस्याएँ आतीं, वे उन्हें ढंग से निपटा देती थीं। सुमति के कारण जटिल प्रक्रिया भी सरल हो जाती थी। इसे गर्भस्थ शिशु का प्रभाव माना गया। और जन्म होने पर बालक का नाम सुमति रख दिया गया।

कई नाम अर्थ को ध्वनित करने वाले होते हैं और इस प्रकार सार्थक भी होते हैं और कई नाम केवल औपचारिकता लिये हुए होते हैं। धारक के क्रिया—कलापों और चरित्र से मेल नहीं खाते और इस कारण नाम बड़ा और दर्शन खोटा वाली बात हो जाती है। नाम महावीर रख देने मात्र से कोई महावीर नहीं हो जाता। सुमतिनाथ नाम सार्थक है और कवि आनन्दघनजी प्रार्थना में सुमतिनाथ भगवान के चरणों में आत्मा को अर्पित करने की बात कह रहे हैं।

एक बार एक ढोल अपनी बार—बार की पिटाई से तंग आ गया। मंदिर में जो भक्त पहुँचते उसके चमड़े पर डंडे की चोट करते। उस ढोल ने दुःखित होकर प्रभु के चरणों में निवेदन किया—भगवन् ! यह बात मेरी समझ में नहीं आई। भक्त आकर पूजा आपकी करता है पर पूजा करने के साथ डंडे की वौछार मुझ पर करता है; पूजा आपकी होती है, मार मुझे पड़ती है। ऐसा मैंने कौनसा अपराध किया है, जिस कारण से पूजा आपकी और पिटाई मेरी हो जाती है। कहा—जाता है तव परमात्मा ने कहा तुम भ्रान्ति में हो, जहाँ मेरी पूजा होती है, वहाँ तुम्हारी पिटाई हो नहीं सकती।

ढोल ने कहा–क्या बात कर रहे हैं ? परमात्मा ने उत्तर दिया–बात सही है। पूजा करने वाले यथार्थ में पूजा नहीं कर रहे हैं। जिस पूजा के साथ अनेक कामनाएँ जुड़ी हो जिस पूजा में सच्चा प्रेम सच्ची भक्ति सच्चा बहुमान नहीं है वह पूजा वस्तुतः पूजा नहीं होती और इसलिए यहाँ पहुंचने वाले जितने भी पूजा करते हैं वे केवल औपचारिकता का निर्वाह करते हैं। और वह पूजा की औपचारिकता मुझ तक पहुँच नहीं पाती। परिणामस्वरूप वे लाभान्वित नहीं हो पाते। जिससे अपनी खीज निकालने के लिए तुम्हारी पिटाई कर देते हैं। किन्तु जो हृदय में मेरी पूजा करते हैं उन्हें तुमको या अन्य किसी को पीटने की आवश्यकता ही नहीं पड़ती। परमात्मा ने आगे कहा–सुनों, मेरे चरणों में वाचिक रुप से आत्मा की अर्पणा–सपर्पणा करने वालों की कमी नहीं है। ऐसी अनेक घटनाएं तुमने सुनी एक घटना सुनाता हूँ जब पांडव तीर्थयात्रा के लिये निकले तब श्रीकृष्ण से भी उन्होंने तीर्थाटन का आग्रह किया। श्रीकृष्ण उस औपचारिकता को समझ गए। उन्होंने पाण्डवों को टालते हुए कहा–मैं अभी कार्य में व्यस्त हूँ इसलिये चल नहीं पाऊंगा। ऐसा करो, मेरी एक तुम्बी को ले जाओ। इतना कहकर श्रीकृष्ण ने उन्हें एक तुम्बी दे दी। तुम्बी देने के साथ यह भी कहा जहाँ–जहाँ तुम तीर्थ करो मेरी तुम्बी को भी करवा देना। तुम जहां–जहां तीर्थ स्नान करो वहाँ–वहाँ मेरी तुम्बी को भी तीर्थ स्थान करवा देना। पाण्डव खुशी–खुशी तुम्बी ले कर चले गये और उसे तीर्थ करवाते रहे। तीर्थ स्नान भी करवाते रहे। तीर्थाटन से लौटे तो श्रीकृष्ण के चरणों में उपस्थित हुए और उन्हें उनकी तुम्बी सुपुर्द कर दी। श्रीकृष्ण ने कहा अच्छा अभी का भोजन आपको यहीं करना है। श्री कृष्ण के निर्देशानुसार उसी तुम्बी का शाग बनाया गया। पाण्ड़वों को वही शाग परोसा गया पाण्ड़वों ने जैसे ही वह शाग खाया वैसे ही थू–थू करके कहने लगे यह कैसा शाग परोसा गया। इसको कैसे खाएं ? यह तो बहुत कड़वा है। तब श्रीकृष्ण ने कहा–मेरे साथ धोखा क्यों किया ? पांडव आश्चर्य से कहने लगे धोखा और आपके साथ ? हम आपके साथ धोखा कैसे कर सकते है ? श्रीकृष्ण ने किंचित हास्यपूर्वक कहा–मैंने आपको तुम्बी दी थी, साथ में यह भी कहा था कि इसे तीर्थ करवाना व इसे तीर्थस्नान भी करवाना। फिर आपने तीर्थस्नान क्यों नहीं कराया ? तब पाण्डव कहने लगे–वासुदेव ! आप विश्वास कीजिये हमने पहले इसे नहलाया है। उस पर परमात्मा ने सत्य बोध करवाते हुए कहा कि फिर क्या कारण है कि नहलाने के बाद भी तुम्बी कडवी की कडवी रह गई। इस पर पाण्डव बोले आप भी कैसी बात कर रहे हैं ? स्नान करवाने से तुम्बी का कडवापन

कैसे दूर हो सकता है ? तब श्रीकृष्ण वासुदेव बोले मित्रों–जैसे स्नान करवाने से तुम्बी का कड़वापन दूर नहीं होता। वैसे ही –तीर्थ स्नान करने मात्र से आत्मा साफ नहीं हो जाती। ऊपर की चमड़ी धुल सकती है पर आत्मा की धुलाई संभव नहीं।

परमात्मा ने अपनी बात जारी रखते हुए कहा कि एक ब्राह्मण लंबी दूरी की यात्रा करता हुआ चला जा रहा था। चाहता था, गंगा स्नान करूँ। चलते–चलते गंगा के निकट जा पहुँचा। गंगा जब कुछ ही दूरी पर थी तब उसके पैरों की जूतियाँ घिस गई। सामने देखा एक चमार बैठा था। उसे जूतियाँ दिखाई। ठीक करने को दी और पूछ लिया–भाई ! तुम तो रोज गंगास्नान करते होगे। चमार ने उत्तर दिया–ब्राह्मण देवता ! इतना समय नहीं कि मैं रोज गंगास्नान कर सकूं। इसी के साथ उसने कहा–आप जा रहे हैं तो मेरी यह एक सुपारी ले जाओ, गंगा मैया को सौंप देना। ब्राह्मण ने कहा तुम ही चलते तो ज्यादा ठीक रहता। गंगा यहाँ से दूर भी नहीं है। मैं तो कितनी दूर से यात्रा करके आ रहा हूँ। फिर व्यंग्य से इतना और जोड़ दिया–तुम जानो भी क्या, आखिर मोची जो ठहरे। परमात्मा की भक्ति कैसे करनी है, इसका ज्ञान तुम्हें हो भी कैसे सकता है ? मोची ने कहा–ठीक बात है देव ! मैं क्या जानूं। आप नर पुंगव हैं जन्मजात, संस्कार मिले हैं। मुझे तो ऐसे संस्कार मिले भी नहीं। दूसरी बात है कि मैं इतना व्यस्त रहता हूँ कि समय भी नहीं निकाल पाता। ब्राह्मण देवता ने उपहासपूर्वक कहा–अरे ! क्या बात करते हो। धन के लिए इतना समय निकालते हो तो थोड़ा समय तो आत्मा के लिए भी निकालना चाहिये। और भी कई बातें ब्राह्मण देवता ने सुना दीं। वह मोची था, नहीं जानता होगा पर व्यंग्य बाण छोड़ने का अधिकार ब्राह्मण देवता को कहाँ से प्राप्त हो गया ? सहजता से भी बात कही जा सकती थी। पर पूजा–भक्ति का सारा का सारा ठेका तो ब्राह्मणों ने ही ले लिया है। वे अपने ब्राह्मण होने के घमण्ड में थे। उन्हें पता भी नहीं था कि वह दीन चमार भगवान का अनन्य भक्त था। अस्तु, रैदास के कहने से वह सुपारी उन्होंने ले ली। स्नान करने लगा तो सुपारी की याद आई। अरे! रैदास ने कहा था–स्वयं गंगा मैया हाथ निकाले तो देना। यह नहीं कि पानी में वहा दो। ब्राह्मण ने कहा–गंगा मैया तुम्हारे भक्त ने यह सुपारी भेजी है, मैं तुम्हें देना चाहता हूँ। और कथा में बतलाया जाता है कि उसी समय जल–धारा में से एक हाथ निकल आया। ब्राह्मण आश्चर्यचकित हो गया। उसने उस पर सुपारी रख दी। तत्काल हाथ अन्दर जाकर बाहर आया, उसमें एक कंगन था और आवाज आई यह कंगन मेरे भक्त रैदास के

धीरज धर्म मित्र अरु नारी आपन्ति काल परखिये चारी।

आपत्ति में धैर्य रखें विचलित न हो तभी वह धैर्यवान है। सारी व्यवस्था व्यवस्थित रहे तब तक कहते रहे सब सही है पर जब स्वार्थपूर्ति में कमी पड़ने लगे तब व्यक्ति विचलित हो जाय तब कैसे समझा जायेगा व्यक्ति धैर्यवान है। जिसने व्रत–नियम स्वीकार कर लिये उनका पालन करता है, पांचों इन्द्रियें पर जिसने विजय प्राप्त कर ली है उसके जीवन में परिवर्तन होता ही है। कोई कारण नहीं कि परिवर्तन न आये। किन्तु जहाँ औपचारिकता का निर्वाह हो रहा है वहाँ जीवन में परिवर्तन आना संभव नहीं है पर जहाँ औपचारिकता नहीं यथार्थ है, वहाँ जीवन का सही स्वरूप उजागर होता ही है। रैदास के जीवन में औपचारिकता नहीं थी। ब्राह्मण देवता घर गये और पत्नी से कहा–मेरी भक्ति से खुश होकर गंगा मैया ने यह सौगात दी है पहन ले इसको। पत्नी ने कहा–मैं गरीब औरत इसे पहन भी लूं, तो विश्वास कौन करेगा। क्योंकि गरीब असली आभूषण पहन ले तो भी लोग कहेंगे असली नहीं नकली है। इसके विपरीत एक करोड़पति परिवार की औरत नकली आभूषण पहन ले तो कौन सोचेगा कि यह नकली होगा। सभी सोचेंगे कि यह तो खरे स्वर्ण का आभूषण होगा। उसने कहा– मैं पहनूंगी तो लोग विश्वास नहीं करेंगे, कोई सोचेगा चोरी करके लाये होगें। इससे अच्छा है सम्राट को भेंट कर दो। वह जो कुछ देंगे उससे जीवन बसर कर लेंगे। ब्राह्मण को बात ठीक लगी। पहुँचा सम्राट के दरबार में। सम्राट से कहा–मैंने इतनी बार पैदल चलकर गंगा स्नान किया तो गंगा मैया ने इस बार प्रसन्न होकर मुझे यह कंगन दिया है। मैंने सोचा मैं गरीब ब्राह्मण इसकी क्या हिफाजत कर पाऊंगा। मेरे घर में इसे किसी ने पहन भी लिया तो इस कंगन की शोभा नहीं बढ़ेगी। मैया की सौगात का उचित सत्कार नहीं होगा। इसी चिन्तन में यह बात उभरी कि इसे सम्राट को सौंप दूं जिससे गंगा मैया की सौगात को उचित सम्मान मिलेगा। इसी भावना से श्रीमान के चरणों में उपस्थित हुआ हूँ। सम्राट कंगन की चमक से खुश हो रहे थे, साथ ही ब्राह्मण के कथन ने उन्हें विशेष प्रभावित भी किया था। जिससे सम्राट ने खुश होकर ब्राह्मण को ढेर सारा द्रव्य दिया, जिसे लेकर वह घर चला गया।

सम्राट ने रानी को कंगन दिया। रानी ने उसे पहना पर एक हाथ सूना लगने लगा। तब रानी ने कहा–महाराज...... दूसरा और होना चाहिये। राजा विचार में पड़ गया यह तो गंगा मैया का प्रसाद था। अब ब्राह्मण देवता भी चले जायं तो क्या दूसरा मिल जायेगा ? राजा का ही मन वोला–क्यों

नहीं, वह भक्त है, भक्त की पुकार भगवान नहीं सुनेंगे तो कौन सुनेगा ? सम्राट में आशा का संचार हुआ तो उन्होंने उसे बुलाया व आदेश दिया कि एक कंगन और लाओ। आदेश सुना तो ब्राह्मण की आंखों के सामने अंधेरा छा गया। सोचा, मामला गड़बड हो गया। औरत के चाले लगकर विपत्ति मोल ले ली थी। घर पहुंचा और कहने लगा—मैंने तुम्हारे कहने से कंगन सम्राट को दिया तो सम्राट कहते हैं दूसरा और ला दो। ब्राह्मण ने कहा इसमें क्या बड़ी बात है ? जब गंगा मैया तुष्यमान हैं, तो वह दूसरा कंगन भी दे देगी। उनका वरदहस्त आपके ऊपर है। आप झटपट जाइये और दूसरा कंगन ले आइए। जिससे राजा से और ढेर—सारा द्रव्य प्राप्त हो पाएगा। ब्राह्मण जानता था कि कंगन मेरी भक्ति से नहीं मिला था। अब दूसरी बार मिल जाय, यह उसे विश्वास ही कैसे हो सकता था ? झूठी चतुराई थोड़ी देर के लिए भले चल जाय पर आखिर तक चल नहीं पाती। जब परतें खुलती हैं तब मुंह छिपाने की जगह भी नहीं मिलती। अब वह किसको क्या कहे ? वह वहां से निकला सोचा दूसरा न लाऊं तो भी ठीक नहीं और लाऊं भी तो कैसे लाऊं। सोचते—सोचते उसने निर्णय लिया कि रैदास के पास चलना चाहिये। वह सीधा रैदास के पास पहुंचा। सारी हकीकत सुनाते हुए उसने रैदास से कहा—मेरा एक काम और कर दे। एक सुपारी दे दो गंगा मैया से एक कंगन और प्राप्त करना है। रैदास ने कहा इतनी दूर से चलकर आये हो, अब गंगा तक जाने की जरूरत नहीं। ब्राह्मण बोला—यदि गंगा तक नहीं जाऊंगा तो कंगन और कहां से प्राप्त होगा। रैदास ने कहा—देव। बैठिए आप। इतना कहकर रैदास ने गंगा का स्मरण किया। और कठौती में हाथ डाला तो कठौती में से वैसा ही दूसरा कंगन प्राप्त हो गया। तभी से कहावत चालू हो गई—

"मन चंगा तो, कठोती मे गंगा।"

इतना कहकर परमात्मा ने ढोल से कहा—भाई ढोल जो मेरी सच्ची पूजा करने वाला होता है उन्हें तुम्हारे ऊपर प्रहार करने की आवश्यकता ही नहीं रहती। पर जो केवल औपचारिकता से पूजा करते हैं, वही तुम्हारे पर डंडे का प्रहार करते हैं। यह एक रूपक है। पधारो कहकर संत का सत्कार किया फिर वापस जाकर दीवान पर बैठ गए। संत ऐसी ही कृपा करते रहें तो 'आप डूबे पाण्ड्या ले डूबे जजमान' जैसी हालत तो नहीं हो जाएगी ... बहुत सारे यही मान रहे होंगे कि मन चंगा है तो लाल ... की आवश्यकता कहां है। तिजोरी में हाथ डाल लेंगे तो ... मिलेगी। अब धर्म करने की आवश्यकता कहां रह गई ...

गोचरी पधारे। वकील साहब की दृष्टि टकराई तो उठे और पधारो–पधारो। संत अन्दर गये गोचरी लेकर लौटे तो फिर दृष्टि वकील साहब से टकराई तो पुनः वही पधारो–पधारों ऐसा होता है। दृष्टि पड़ गई तो वन्दना कर लो, नहीं तो आँखें फेर लो। पूछ लिया महाराज ने–कुछ नित्य–नियम करते होंगे ? वकील साहब बोले–आपकी कृपा है। संत ने पूछा–क्या है कृपा ? बहुत–से व्यक्ति हैं, कहते हैं कृपा है। पर क्या है कृपा ? क्या यही है कि ज्यादा से ज्यादा परिग्रह बढ़ा लें। आरम्भ करें ? यही होती है क्या संतो की कृपा ? कई भाई कहते हैं–अन्नदाता आपकी कृपा से मंगलिक सुनकर गया तो काम हो गया। गजब की बात है। यदि संत ऐसी ही कृपा करते रहें तो 'आप डूबे पाण्डियो ले डूबे जजमान' जैसी हालत तो नहीं हो जाएगी ? संत की कृपा मानते हो तो अपने भीतर समीक्षण करो, तुम आश्रव से ऊपर उठने कितने तैयार हुए ? धर्म के प्रति रुचि कितनी जगी ? उदारता का सोत कितना प्रवाहित हुआ ? तुम्हारे मन में त्याग का भाव कितना जाग्रत हुआ ? संसार से उदासीनता कितनी हुई ? तब तो वस्तुतः संतों की तुम्हारे पर कृपा हो गई। पर यदि अभी भी तुम्हारे मन में आपाधापी चल रही है तो कैसी कृपा ? पहले तो कुछ त्याग–नियम था भी पर जब से संपत्ति बढ़ी है त्याग–नियम भी छूट गये हैं। कई भाई ऐसे भी है जो पहले सामायिक करते थे–पर जब से संतों का सम्पर्क हुआ कहते हैं, क्या बताऊँ आपकी कृपा का फल, सम्पत्ति इतनी बढ़ गई की सुबह उठते ही फोन का काम शुरू हो जाता है जिससे सामायिक कर नहीं पाता। क्या इसे कहेंगे संतों की कृपा ? ऐसा मत समझना। यथार्थ में यदि तुम्हारी त्याग भावना बढ़ी है, तुम में उदारता आई है, तुम्हारे भीतर प्रेम–स्नेह–वात्सल्य भाव प्रवाहित हुआ है तो समझना संतों की कृपा हुई है।

आनंद श्रावक भी पहले बड़े पैमाने पर व्यापार करता था। 40,000 पशुधन था। वह भी व्यापार कर रहा था परन्तु भगवान महावीर का एक प्रवचन सुना, और व्रतधारी बन गया। वस्तुतः भगवान महावीर की कृपा आनंद पर हो गई थी। उसके जीवन में बदलाव आ गया। जहाँ पहले धन कमाने का लक्ष्य था वहाँ अब धर्म कमाने का हो गया। बतलाया जाता है कि परिवार के लिए जितना दूध काम में आता उतने के अलावा सारा दूध अभावग्रस्त परिवारों में वितरित कर दिया जाता। अब संग्रह बुद्धि समाप्त हो गई। पहले पानी का प्रवाह अपनी ओर रहता, अब दूसरी ओर हो गया। अब वृत्ति में उदारता और त्याग–भाव आ गया। ये सद्गुण हमारे भीतर आये इनका प्रादुर्भाव हो, तो समझो हमारे पर संतों की कृपा हुई है।

उदारा ने दूसरा कंगन मांगा। ब्राह्मण ने ले जाकर सम्राट को दे दिया। यह कथा भले वहां समाप्त हो गई किन्तु वहां जो बात कही गई है कि एक भक्ति नाम मात्र की भी होती है। नाम मात्र की भक्ति आपचारिक होती है, वैसी औपचारिक भक्ति हो तो जीवन का सच्चा सुख और आनंद प्राप्त नहीं कर पाएंगे। और यदि संतों की कृपा हुई है तो देखिये भीतर की टी.वी. में कि मेरे भीतर कितना बदलाव आया है, मैं कितना आगे बढ़ पाया हूं। छोटी–छोटी बातों में मैं उत्तेजित तो नहीं हो जाता हूं। इस बात को भी समझने की आवश्यकता है।

एक गांव मे बहुत–से किसान थे। एक के पास बहुत जमीन थी। वह स्वयं काम नहीं करता था और नौकरों को झिड़कता रहता था। उन्हें वेतन भी पूरा नहीं देता था। तो आप समझ लिजिये कि नौकर काम भी कैसा करते होंगे। मनोवैज्ञानिक इस बात को जान लेता है। उसी गांव में एक ऐसा किसान भी था जो थोड़ी जमीन लेकर खेती करता था। वह स्वयं जाता था–और कहता था आओ भाई, काम करें। जब अनाज पैदा होता तो कहता तुम्हारी मेहनत से पैदा हुआ है तो तुम भी थोड़ा ले जाओ। और यह देखा भी गया है कि किसानो में उदारता होती है, वे राहगीरों को बुलाकर और बहुत प्रेम से खिलाते है। पर जैसे–जैसे उदारता कम होती जाती है पैदावार घटती जाती है। पैसा कमाने के भाव आते हैं, तो उदारता घटती जाती है–

धर्म करता धन बढ़े, धन बढ़ता मन बढ़े।
मन बढ़ता मनसा बढ़े, बढ़त–बढ़त बढ़ जाय।।
धर्म घटता धन घटे, घटत–घटत मन घटे।
मन घटता मनसा घटे, घटत–घटत घट जाय।।

रैदास ने दूसरा कंगन मांगा। ब्राह्मण ने ले जाकर सम्राट को दे दिया। वह कथा भले वहाँ समाप्त हो गई किन्तु वहाँ जो बात कही गई है कि एक भक्ति नाम मात्र की भी होती है। नाम मात्र की भक्ति औपचारिक होती है, वैसी औपचारिक भक्ति हो तो जीवन का सच्चा सुख और आनंद प्राप्त नहीं कर पाऐंगे। और यदि संतों की कृपा हुई है तो देखिये भीतर के टी.वी. में कि मेरे भीतर कितना बदलाव आया है, मैं कितना आगे बढ़ पाया हूँ। छोटी–छोटी बातों में मैं उतेजित्त तो नहीं हो जाता हूँ। इस बात को भी समझने की आवश्यकता है।

एक गाँव में बहुत–से किसान थे। एक के पास बहुत जमीन थी। वह स्वयं काम नहीं करता था और नौकरों को झिड़कता रहता था। उन्हें वेतन भी पूरा नहीं देता था। तो आप समझ लिजिये कि नौकर काम भी कैसा करते होंगे। मनोवैज्ञानिक इस बात को जान लेता है। उसी गाँव में एक ऐसा किसान भी था जो थोड़ी जमीन लेकर खेती करता था। वह स्वयं जाता था–और कहता था आओ भाई, काम करें। जब अनाज पैदा होता तो कहता तुम्हारी मेहनत से पैदा हुआ है तो तुम भी थोड़ा ले जाओ। और यह देखा भी गया है कि किसानों में उदारता होती है, वे राहगीरों को बुलाकर और बहुत प्रेम से खिलाते हैं। पर जैसे–जैसे उदारता कम होती जाती है पैदावार घटती जाती है। पैसा कमाने के भाव आते हैं, तो उदारता घटती जाती है–

धर्म करंता धन बढ़े, धन बढ़ता मन बढ़े।
मन बढ़ता मनसा बढ़े, बढ़त–बढ़त बढ़ जाय।।
धर्म घटंता धन घटे, घटत–घटत मन घटे।
मन घटता मनसा घटे, घटत–घटत घट जाय।।

मन घटता ही चला जाता है। मन घटता है तो समझो वह संतों की कृपा नहीं है। वह अशुभ कर्मों का उदय है। मै बता रहा था उस वड़े किसान की बात। उसमें उदारता नहीं थी। नौकर समर्पित भाव से काम नहीं करते थे। फलस्वरूप उत्पादन घटता गया और उसकी आर्थिक स्थिति कमजोर होती चली गई। थोड़े ही दिनों में जागीरदार को जमीन वेचने की नौवत आ गई। जो दूसरा किसान था जिसके पास थोड़ी–सी जमीन थी वहीं किसान उसकी जमीन खरीदने वाला बन गया। उसने पूछा–तुम्हारे पास इतने पैसे कहाँ से आये। तुम्हारे पास तो थोड़ी–सी जमीन थी। उसने कहा जाओ और आओ का ही यह रहस्य है। तुम नौकरों से कहते हो जाओ काम करो और मैं कहता हूँ आओ काम करें। जाओ कहने से लक्ष्मी जाने

लगती है, मैं कहता हूँ आओ तो लक्ष्मी आने लगती है। यही अंतर है। बात उस किसान के भी समझ में आ गई। इसमें संतों की कृपा या अकृपा की बात नहीं है। बात है व्यक्ति के व्यवहार की। कोई अपना व्यवहार ही नहीं सुधारे तो संत की कृपा क्या काम आयेगी ?

सुभाषचन्द्र बोस कहते थे 'तुम मुझे खून दो मैं तुम्हें आजादी दूंगा।' आज खून देने वाले बहुत मिलते हैं। रक्तदान के शिविर भी बहुत लगते हैं और कारगिल घाटी पर खड़े होने वाले भी बहुत हैं पर अपने भीतर की कारगिल की घाटी पर खड़े हो कर आत्मा की आजादी के लिये संघर्ष करने वाले कितने वीर तैयार हैं ? छोटे–छोटे त्याग–प्रत्याख्यान के लिए भी बगलें झांकने लग जायेंगें। बड़े–बड़े वीरों को मात करने वाले मिल जायेंगे पर वे ही वीर क्रोध–मान–माया–लोभ के सामने घुटने टेकते देखे गये हैं। बाहर का युद्ध आसान है, रक्तदान आसान है, किन्तु रक्त में जिन कषायों को रग–रग में मिला रखा है, उन्हें खदेड़ने वाले, न उनसे उपरत होने वाले वीर विरले होते हैं। भगवान् महावीर कहते हैं–

'अप्पाण मेव जुज्झाहि।'

यदि युद्ध करना है तो अपने से युद्ध कर। जहाँ कषायों का, शत्रुओं का जमाव हो रहा है उनसे युद्ध कर। राग–द्वेष के कीटाणुओं को दूर कर नहीं पा रहा है और आजादी की बात कर रहा है ! भारतीय खुश होते हैं कि हमने आजादी पा ली। पर आपने यथार्थ में आजादी नहीं पाई है तथा–कथित आजादी ली है आज भी हमारी मानसिकता में गुलामी के बीज भरे पड़े हैं। हमारी मानसिकता गुलामी के इर्द–गिर्द चक्कर काट रही है। अफसरशाही मानसिकता से स्वयं को ऊपर उठा नहीं पाये हैं। आज भी बड़े–बड़े अफसरों के चारों ओर अंगरक्षक सुरक्षा अधिकारी क्यों चाहिये ये सुरक्षा किस लिए और किस से ? अंग्रेज, भारत में रहकर काम करते थे, इसलिये वे भारत के खूंखार व्यक्तियों से डरते थे। इसलिए उन्हें सुरक्षा बल चाहिये था। ताकि वे खूंखार व्यक्ति उनका कुछ भी बिगाड़ न सकें। पर भाई ! तुम तो भारतीय हो। तुम जनता के बीच से ही गये हो। जब जनता के बीच में बोलते थे तब कोई भय नहीं था। कुर्सी पर आते ही अंगरक्षक सुरक्षा, कमांडो फोर्स चाहिये ? यह अफसरशाही, नहीं तो और क्या हैं ? यह अफसरशाही यह नौकरशाही जब तक बुद्धि से दूर नहीं होगी तब तक हम कैसे समाज–कल्याण या राष्ट्र–कल्याण की बात कर सकते हैं। यह आजादी का रूप नहीं है। यथार्थ में जब विचारों की आजादी होगी और संस्कृति से प्यार होगा तभी आप सच्चे मायने में आजाद हो पायेंगे नहीं तो

समझ लिजिये कि स्वतंत्र हुए नहीं है। पैरों में परतंत्रता की बेड़ियाँ जकड़ी हुई हैं। आफिसों में कोई काम होगा तो इंग्लिश में होगा बच्चों को पढ़ाना है तो इंग्लिश में क्यों साहब ? हिन्दी पढ़ने वाला अपना पेट नहीं भर सकता क्या ? पशु–पक्षी भी अपना पेट भर लेते हैं, आज भी वे अपनी संस्कृति में चलते है। बहुत–से पक्षी रात में चुग्गा नहीं चुगते। उनके लिए तो चौथा आरा है। और हमारे लिए आरा बदल गया। इक्कीसवीं सदी में प्रवेश करके गौरवान्वित होते हैं। पर क्या गौरवान्वित होओंगे। छठे आरे के निकट जा रहे हैं। जितनी विलासिता बढ़ाई है वह छठे आरे के निकट जाने की तैयारी हो तो है। और संयमित रहें तो फिर देखिये। छठा आरा आपके निकट भी नहीं फटकेगा। किंतु कौन सोचे।

मैं जब आसाम में था तब की बात बता रहा हूँ। आसाम में कछार जिला बहुत बड़ा जिला है। वहाँ भाषा बंगला चलती है। आसाम सरकार ने एक बार विचार किया कि पूरे आसाम में असमी भाषा लागू कर दी जाय। तब कछार जिलावासियों ने आंदोलन छेड़ दिया। उन्होंने अपनी आवाज बुलन्द की– रक्त दीबो, जान दीबो, भाषा दीबो ना।

और आपके मुँह से क्या आवाज निकलती है ? जान बख्स दें। जान मिली तो लाखों पाये। धर्म जाये पर धन बच जाये। लेकिन होना यह चाहिए कि धर्म जाता है तो पहले जीवन चला जाये। धर्म बिना जीवन किस काम का ?

धिरत्थु तेऽजसोकामी, जो तं जीविय कारणा।
वंतं इच्छसि आवेउं, सेयं ते मरणं भवे।।

बात सुनने में अच्छी लगती है। महाराज कितना ही सुना दें, पर आप एक कान से सुन कर दूसरे से निकाल दें तो सुनाने का क्या लाभ? अपने कर्तव्य का बोध भी होना चाहिये। उसके लिए किसी अन्य व्यक्ति, चाहे वह महाराज ही क्यों न हो, के प्रोत्साहन की क्या आवश्यकता है ?

संत तो अपना काम कर ही रहे हैं, आपको अपनी करनी की ओर देखना है चाहे वह परिवार से संबंधित हो चाहे व्यवसाय संस्कृति या धर्म से संबंधित हो, फल तो उसका ही होगा। धर्म करने की शक्ति और श्रद्धा उत्पन्न हो इसके लिये सुमति चाहिये। इस हेतु सुमतिनाथ भगवान के चरणों में आत्मार्पण कर दें, यही प्रार्थना कवि ने भी की है। आप और हम भी यही प्रार्थना करें पर निष्क्रिय होकर न बैठ जायं क्योंकि संतों की कृपा भी फलदायिनी तभी बनती है जब अपनी स्वयं की कृपा भी अपने ऊपर हो। इस बात को समझें–अपनी स्वयं की कृपा अर्थात् कर्तव्यबोध। धर्म के प्रति

यह होगा तो समझ लिजिये जीवन सार्थक हो गया क्योंकि–

धम्मो ताणं, धम्मो सरणं, धम्मो गहपइठ्ठा य।
धम्मेण सुचरिएण य गम्मइ अजरामरं ठाणं।।

यही तो लक्ष्य होता है परन्तु इसकी प्राप्ति के लिये साधु–संतों की कृपा अपनी स्वयं की कृपा के साथ ही जुड़ती है। अतः अपने विवेक को जाग्रत रख कर स्वप्रेरित और स्वनिर्देशित हों। भगवान् ने भी कहा है–'अप्पाणमेव जुज्झाहि।' अपने–आप से युद्ध करो। आत्मा को आत्मा द्वारा जीतो। शाश्वत सुख या मोक्ष प्राप्त करने का यही मार्ग है।

☆☆☆

16.8.2000

परमात्म पद प्राप्त करने की राह

"पदम प्रभु जिन तुज मुज आतरूँ रे, किन भंजि भगवन्त"

प्रार्थना की यह पंक्ति गहन आध्यात्मिक ज्ञान से परिपूर्ण है ही, यह एक बड़े आध्यात्मिक सत्य की ओर भी संकेत करती है। यह स्पष्ट करती है कि परमात्मा और आत्मा के बीच अन्तर है। परन्तु विडम्बना यह है कि बहुत समय तक तो हम जान ही नहीं पाते हैं कि हम में और परमात्मा में अन्तर है। जब तक दृष्टि का प्रसार नहीं होता और आत्मा अपने वैभाविक भावों में ही निमज्जित रहती है तब तक उसे यह पता ही नहीं होता कि आत्मा ही परमात्मा होता है। किंतु जब थोड़ा–सा उजाला होने लगता है,वह गुरु–भगवंतों से सुनता है कि आत्मा ही परमात्मा होता है तब वह वास्तविकता से परिचित होता है। तब उसे यह भी ज्ञात होता है कि जो परमात्मा हैं वे भी सदा–सर्वदा से परमात्मा नहीं हैं, पहले वे भी इस धरा पर रहे थे और जब पुरुषार्थ साधा, तब परमात्मा बने। परमात्मा के गुणों का जब जिक्र चलता है तब उस आत्मा में स्फुरणा बनती है कि मेरे में व परमात्मा में जो अंतर है उसे जानूं और जो अंतर है उसे दूर करूं। वह विनत भाव से स्वीकार करता है पदम् प्रभु तुज मुज आतरूँ रे.......। तुम्हारे व मेरे में अंतर है।

एक करोड़पति की बिल्डिंग है और एक झोपड़ी है। यह मैंने जान लिया है कि ऐसे दोनों में सामान्य अन्तर है–एक सात मंजिल की बिल्डिंग है और एक झोपड़ी है, दोनों की नींव धरती में है। किन्तु जिसकी नींव जितनी गहरी चली गई वह बिल्ड़िग उतनी ही ऊपर उठ गई और जिसकी नींव जमीन में गई ही नहीं वह झोपड़ी ही रह गई।

एक बार एक व्यक्ति पृथ्वी का स्वरूप देखने निकला। उसने देखा

कि हिमालय की चोटी आकाश को छू रही है। उसे आश्चर्य हुआ–पृथ्वी का ऊपर इतना फैलाव है और पाताल में समुद्र की अतल गहराई है। पृथ्वी का ऐसा स्वरूप ! उसने विचार किया ये क्या बात हैं ? उसने पृथ्वी से प्रश्न किया–ये क्या बात है ? पृथ्वी ने मुस्कराकर कहा–यदि विनय को अतल गहराइयों में ले जायें, विनम्र का ऐसा स्वरूप बना पायें कि समुद्र की गहराई भी ओछी पड़ जाये तो तुम्हारा ज्ञान–गुण और विवेक–गुण इतना विकसित हो जायेगा कि हिमालय की चोटी को भी लांघ जायेगा। यदि इन दोनों छोरों को प्राप्त करने का प्रयत्न किया और एक छोर को भी यदि माप लिया तो दूसरा अपने–आप तैयार होता चला जायेगा। सात मंजिल मकान की नींव गहरी होती है तो मंजिल ऊपर चढ़ती चली जाती है लेकिन झोपड़ी की नींव एक बेंत होता हैं अतः उस पर सात मंजिल बन ही नहीं सकती। हम ऊपर की मंजिल देखते हैं पर मूल कारण विस्मृत कर जाते हैं। यही बात आत्मा–परमात्मा के संदर्भ में है। हम सोच ही नहीं पाते कि परमात्मा का इतना विकास कैसे हो गया। वह आत्मा भी हमारे साथ रही थी। पर इतना विकास जब देखते हैं तो चिंतन स्वाभाविक रूप से होता है। उसी चिन्तन में दूरी के तीन कारण सामने आते हैं–

(1) कर्म (2) विपाक और (3) बंध।

और ये तीन कारण हमारी आत्मा में विद्यमान हैं। परमात्मा में नहीं। परमात्मा सिद्ध, बुद्ध, मुक्त, निरंजन, निराकार हो चुके हैं, किन्तु हम अभी आकार में, शरीर में, कर्म उदय के घेरे में बंधे हुए हैं। यह अंतर है। इस अंतर को कैसे पाटा जाये ? इसके लिए शास्त्रकारों ने कहा–साधक सदा जाग्रत रहे। प्रयत्न हो कि कोई ठोकर लगे ही नहीं, यदि कभी ठोकर लग जाय तो तत्काल संभल जाय। राह चलते हुए सावधान रहे कि कोई कांटा लगे ही नहीं, यदि कहीं कांटा लग जाय तो तत्काल उसका शोधन कर लिया जाय। इसी प्रकार अध्यात्म में धर्म मार्ग पर चलते हुए सावधान रहें फिर भी यदि कहीं दोष लग जाय तो निरन्तर आलोचना विधि में स्वयं को तत्पर रखें।

आलोचना किसे कहते हैं ? उससे क्या लाभ हैं ? इसे जानने के लिए हमें उत्तराध्यन सूत्र व उसकी वृत्ति का अवलोकन करना चाहिए। 'आ' उपसर्ग है और 'लोचृ दर्शने' धातु के संयोग से 'आलोचना' शब्द बना है। देखना भी उसका अर्थ है और विचार करना भी। धातु अनेक अर्थ वाली होती है। धातु में जैसे–जैसे अलग–अलग उपसर्ग लगते जाते हैं वैसे–वैसे अर्थ में अंतर होते चले जाते हैं। आचारांग में भी आलोचना की बात कही

गई है ! पर वह अलग रूप में है। वहाँ आलोचना शब्द विचार अर्थ में, जाग्रत अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। भगवान् से पूछा गया–"भन्ते ! आलोचना से जीव को क्या लाभ होता है ? तो भगवान् ने उत्तर दिया–"आलोचना से मोक्षमार्ग में विघ्नकारक, और अनन्त संसारवर्द्धक मायाशल्य, निदानशल्य और मिथ्यादर्शनरूप शल्य को निकाल देता है और ऋजु भाव को प्राप्त करता है। ऋजु भाव को प्राप्त जीव मायारहित होता है।" सामान्य अर्थ भी यदि हम लें तो स्व–आलोचना का अभिप्राय अपने दैनिक जीवन में लगे दोषों का स्वयं निरीक्षण, स्वावलोकन, आत्म–सम्प्रेषण अथवा गुण–दोषों की समीक्षा है। इस प्रकार जब व्यक्ति द्वारा स्वयं अपने कार्यों की समीक्षा की जाती है तब वृत्ति–सुधार, चरित्र–सुधार और इस प्रकार जीवन–सुधार का मार्ग प्रशस्त होता है। जो लोग अपने परलोक अथवा अगले भवों को सुधारने की इच्छा रखते हैं अथवा अपना कल्याण चाहते हैं उनके लिये इस प्रकार का स्वावलोकन आवश्यक होता है। आचारांग सूत्र के भाव को भी समझें। मान लीजिये कोई श्रावक सर्दी के मौसम में महाराज से कहे ठण्ड बहुत पड़ रही है। यदि ठण्ड से बचने का उपाय नहीं किया तो ठिठुर जायेंगे [illegible] हो जायेंगे। ठण्ड से आपकी रक्षा हो सके इसलिए मैं आपके लिए अंगीठी जलाकर या धूनी जलाकर रख देता हूँ। आप आग तापकर ठण्ड दूर भगा लीजिये। आज युग बदला है। युग बदलने के साथ [illegible] व साधन भी बदल जाते हैं। आज हम [illegible] में काम नहीं [illegible], [illegible], [illegible] जलाकर रखने की आवश्यकता नहीं। [illegible] कह सकता है कि ठंड बहुत पड़ रही है [illegible] की आवश्यकता नहीं है, केवल [illegible] [illegible] ठण्ड नहीं लगेगी।

प्रकृति सर्दी–गर्मी के प्रभाव लेकर उपस्थित हुई है उसमें हम अपने पास रहे वस्त्रों से किस प्रकार प्रकृति से तालमेल जोड़ते हैं और कैसे प्रकृति के परीक्षण में खरे उतरते हैं इसका प्रमाण देना है। गर्मी है, उस समय कोई कहे हम पंखा–कूलर–ए–सी चला देते हैं तो वहाँ पर भी साधु के लिए शास्त्रकार संकेत देते हैं कि वहाँ विचार करे, अपने भीतर अन्तरावलोकन करे कि इसके लिए मेरे मन में कहीं कोई कल्पना तो नहीं उठ रही है। साधुता में रमण करने वाले में ऐसी कल्पना भी नहीं आ सकती है। साधु के लिए कहा–'मणसा वि न पत्थए', मन से भी इन व्यवस्थाओं की कामना न करे!

वर्तमान युग बड़ी तेजी से विकासोन्मुख है ! वह विकास चाहे भौतिकी का हो, चाहे विज्ञान का हो ! ऐसे वैज्ञानिक युग में तुम्हारे सामने बहुत–सी बातें आयेंगी कि अब इन पुरानी परम्पराओं से कब तक चिपके रहोगे। युग तेजी से बदल रहा है। संसार बहुत सिकुड़ गया है। कौन नजदीक आयेगा ? कैसे जैन धर्म को सुरक्षित रखेंगे क्या करना है यह भी देखना है। समन्यवादी युग है। अब कट्टरताएं काम नहीं आयेंगी। समन्वय होना चाहिये। पर किसका समन्वय ? वैज्ञानिक प्रयोग करते हैं। जो तत्त्व समानधर्मी होते है उन्हीं का समन्वय हो सकता है विपरीत धर्मात्मक पदार्थों का समन्वय करने से विपरीत ही परिणाम आएगा। दूध के साथ नीबू का समन्वय नहीं हो सकता। यदि दुध में नीबू डाला गया तो क्या वस्तुतः समन्वय हो पाएगा ? समन्वय करने के पहले किन–किन का समन्वय हो सकता है उसका भी ध्यान रखना पड़ता है। सन्निपात की अवस्था बनी हुई हैं, और दूध पिलायें कि सबको एक घाट का पानी पीना है, स्वस्थ को भी दूध पीना हैं और अस्वस्थ को भी, तो मामला बिगड़ जायेगा! इसलिए साधक के सामने ऐसे समय में अनेक परीषह–उपसर्ग आ सकते हैं जिनसे उसे विचलित नहीं होना चाहिये। कर्ण–कटु वाक्यों का प्रयोग भी हो सकता है किन्तु कर्ण–कटु वाक्य सुनकर भी उसे उत्तेजित नहीं होना चाहिए। जिसकी जैसी मति होती है या जैसे संस्कार उसे मिले होते हैं वह उनके अनुसार ही व्यवहार करता है। किन्तु साधक के लिए कहा गया है–तुम्हें अपने–आप में विलचित नहीं होना है, तुम्हें अपने आप में समीक्षण करते रहना है। विचार करते रहना है यदि निरन्तर विचार करते रहे, जाग्रत रहे तो कोई भी अवस्था साधना से विचलित नहीं कर पाएगी और आत्मा–परमात्मा की दूरी दूर होने में देर नहीं लगेगी। नहीं तो दूरी–दूरी करने का प्रयत्न करते रहते हैं और दूरी बढ़ाते रहने का उपक्रम चलता रहता हैं। तो वैसी स्थिति में न

तो परमात्मा से दूरी कम होगी, न ही परमात्मा से संपर्क जुड़ पाएगा।

कोई व्यक्ति सोचे दिल्ली–मुम्बई, जाने के लिए ट्रेन माध्यम है और ट्रेन से यात्रा करें तो वह दिल्ली पहुँच सकता है। पर क्या यह निश्चित है कि ट्रेन से यात्रा करने वाला दिल्ली पहुँच ही जायेगा ? क्यों नहीं पहुँचेगा ? क्योंकि जाना है दिल्ली, पर बैठ गया है मुम्बई की ट्रेन में। तब तो दिल्ली दूर होती चली जायेगी। गाड़ी में बैठ गया, गाड़ी रवाना हो गई ! उसने सुना था 5–6 घंटे में ट्रेन जयपुर से दिल्ली आ जाती है और इतने घंटे हो गये, दिल्ली आई नहीं, तब वह दूसरे मुसाफिरों से पूछ लेता है–दिल्ली कब आएगी ? तो वे क्या बताएंगे ? वे यही कहेंगे कि यह गाड़ी दिल्ली थोड़ी जायेगी ! जैसे दिल्ली वाली में न बैठ दूसरी में बैठे तो दिल्ली पहुँच नहीं पाएंगे। वैसे ही परमात्मा से रही हुई दूरी को दूर करना है तो बीच में रहे कारणों को दूर करना होगा। मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय, अशुभयोग–ये पांच कारण है। जब तक ये दूर नहीं होंगे परमात्मा की दूरी को हम दूर नहीं कर पाएंगे।

आपने स्प्रिंग वाली मशीन को देखा होगा। उसे खींचते हैं तो वह आगे आ जाती है किन्तु स्प्रिंग के पीछे वाला नकुचा दीवार में कील में लगा है तो आप स्प्रिंग को आगे बढ़ा तो सकते हो पर पीछे के छोर को न हटायें तो वह कुछ दूर तो जाएगी, फिर वापस दीवार की तरफ चली जायेगी। जैसे ही छोड़ेगें, वापस वहीं चली जायेगी ! संतों के उपदेश सुने तो थोड़े बढ़े संत गये तो पुनः वहीं जहां से बढ़े थे, ऐसे ही मिथ्वात्व की स्थिति लगी रहे तो कई बार हम ऊँचाई पर आ तो जाते हैं पर उस पर टिक नहीं पाते। कई मिथ्यादृष्टि, जिनके लिए बताया गया कि वे अल्प कषाय–शांत प्रकृति, शुक्ललेश्या वाले होते हैं। वे पुण्यबंध करके 9 ग्रैवयेक तक जाने की क्षमता, तो रखते हैं किन्तु स्प्रिंग वहीं तो वहीं लगी है ! जैसे ही छोड़ा कि स्प्रिंग लाकर खड़ी कर देती हैं। वैसे ही ज्ञानी जन कहते हैं मिथ्वात्व की स्प्रिंग लगी हैं और हमें लगता है परमात्मा के नजदीक जा रहे हैं। किन्तु यथार्थ में हम भ्रांति में जी रहे हैं ! हमारा अंतर समाप्त नहीं हो रहा है बल्कि ज्यों का त्यों कायम है। हम केवल भ्रमणशील अवस्था में भटक जाते है। हमें लगता भले ही हो कि हम बहुत बढ़ गये हैं, हमने विकास कर लिया है पर वास्तव में वैसा कुछ नहीं होता। वैसे ही हम समझते हैं कि हमने विज्ञान का बहुत विकास कर लिया है। आकाश में उड़ान भर ली है पर क्या परमात्मा से दूरी कम की है ? यहॉ से सिद्ध क्षेत्र कितना दूर हैं ? लगभग 7 राजू। इसकी किलोमीटर में गणित करना चाहें तो सम्भव नहीं है। आकाश में प्लेन

बहुत ऊँचाई पर चले जायें, आप उसमें यात्रा कर रहे हों तो क्या आपने सिद्ध भगवान से दूरी कुछ कम की ? क्या कम की ? भले मन में मान लें, कि हम इतनी ऊँचाई पर आ गये पर यथार्थ में सिद्ध भगवान से दूरी कम नहीं की क्योंकि वापस घूमकर वहीं आने वाले हैं। वहाँ आकाश में ही ठहर नहीं पाओगे। वह प्लेन घुमाकर फिर नीचे ले आएगा। वैसे ही कितना ही भौतिक विकास कर लें, सुख–सुविधा जुटा लें, बाहर से कितनी ही ऊँचाई प्राप्त कर लें किन्तु जब तक भावों की दूरियाँ दूर नहीं होगीं तब तक परमात्मा से जो दूरी है, जो बीच का अंतर है, भेद है, वह कम पड़ने वाला नहीं है !

बात परमात्मा की दूरी दूर करने कि की जा रही है किन्तु समाज में व्यक्ति मूँछ को नीची नहीं होने देना चाहता। मेरी इज्जत, मेरी बात का सवाल है। फिर ये नहीं देखते कि दूरी दूर कर रहे हैं या बढ़ा रहे हैं। वह बढ़ रही है तो बढ़े, वे चिन्ता नहीं करते।

श्यामपुरा के पास कुण्डेरा ग्राम है। आचार्य देव का विहार होना था। विहार से एक दिन पूर्व वे प्रायः फरमा देते थे कि यदि आपसी मनोमालिन्य है तो मुझे बहरा देना, मैं झोली में लेकर चला जाऊँगा! वहाँ भी फरमा दिया–कोई भिक्षा देनी हो तो मनोमालिन्य की भिक्षा दे दो। लोगों ने बताया कि दो भाइयों के बीच 36 का आंक है। सहोदर भ्राता हैं पर दूरियाँ बढ़ती चली गई हैं। आचार्य देव ने उन भाइयों से पूछा तो उन्होंने उत्तर दिया– घर में बहिनें तैयार हो जायें तो हमें एतराज नहीं। देवरानी से कहा तो वह भी कहने लगी–कहो वैसा कर लें। जेठानी से पूछा तो उसने कहा–आप कहो तो तेला–पंचोला अठाई कर लूँ पर देवरानी की देहरी न चढूँ। विचार कीजिये क्या वैसी परमात्मा के नजदीक ले जाएगी ? अरे जो कषाय–अहं देवरानी के नजदीक नहीं ले जा रहा हैं वह परमात्मा के नजदीक कैसे ले जा पायेगा ? आचार्य देव नें कहा तपस्विनी हो, अठाई कर लो, मासखमण कर लो पर दिल की स्प्रिंग नहीं खोली तो आगे बढ़ नहीं पाओगी, बहिन हलुकर्मी थी, बात समझ गई। दूरी मिट गई, नजदीकी बन गई।

बंधुओं ! छोटी–छोटी बातें मन में गाँठ डाल देती हैं और दिल से दिल की दूरी बढ़ जाती है। रामायण–महाभारत की कथाएँ आप जानते हैं। एक हंसी के पीछे, एक बात के पीछे कैसे–कैसे काण्ड हो जाते हैं। इसलिए घर में कोई बात हो जाये तो घर की घर में ही समेट लेनी चाहिये। कोर्ट–कचहरी में नहीं जाना चाहिये, क्योंकि कोर्ट में अर्जी गई तो क्या दूध

का दूध, पानी का पानी हो जायेगा ? तुम्हारा केस सही है, तो भी क्या जीत जाओगे ? निश्चित है पेशियाँ पड़ेंगी। पहली पीढ़ी के झगड़े का तीसरी पीढ़ी निकल जाये तब तक भी निपटारा हो जायेगा, यह नहीं कह सकते। याद ही न रहे कि लड़ाई किसकी किस बात पर थी।

जावद के पास एक गांव है खोर। लोगों ने बताया यहाँ 65 वर्षों से एक झगड़ा है। आड़े दिन (सामान्य दिनों में) आते जाते हैं, पर विवाह–शादी हो तो यह इसके घर में, वो उसके घर में। आना जाना नहीं। लड़ाई का कारण पूछा तो कहा कारण हमें पता नहीं। बड़े बुजुर्ग जैसा करते रहे हम भी कर रहे हैं।

श्री सरदारसिंहजी राठौड़ आदि थे। उन्हें समझाया आचार्यश्री पधारे हैं। क्यों नहीं गाँठ खोल लेते नहीं तो ये खुलेगी ही नहीं ? जब–तक काल का परिपाक न हो, तब तक गांठ खुलना संभव नहीं। शायद उस दिन काल–परिपाक का समय आया था, सदस्यों ने भावना बनाई। वे सारे मिलकर आये कि कोई भी कार्य हो तो हिलमिल कर करेंगें। वर्षों का झगड़ा समाप्त हो गया। कचहरी में वर्ष बीत जाये तो अंत आना नहीं है। इसलिए आपस में मिलकर समाधान कर लें। इस प्रकार छोटी–छोटी दूरियों को दूर करते हुए चलेंगे तो एक दिन आत्मा व परमात्मा की दूरी भी दूर हो सकेगी। इसके लिए हम अपनी साधना की नींवों को ठोस एवं गहरी बनाएं। संसार की आसक्तिमय स्प्रिंगों से दूर हटे, आध्यात्मिक ऊंचाइयों को प्राप्त करें तो पद्म प्रभु से हमारा अन्तर मिट पाएगा।

17.8.2000

धर्म–श्रवण और धर्म–श्रद्धा

पद्म प्रभु जिन तुज मुज आँतरू रे..........।

निश्चय नय की दृष्टि से आत्मा को शुद्ध माना गया है। आत्मा का स्वरूप अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन, अनंत सौख्य और अनंत आत्म–रमण स्वभाव का रहा है। पर यह अवस्था प्रारंभ से नहीं रही है। यदि हम यह सोचें कि एक समय तो आत्मा इस शुद्ध स्वरूप में रही फिर उसमें कर्मबंध की अवस्था बन गई तो समझ लें कि ऐसा नहीं हुआ एक बार जो आत्मा शुद्ध स्वभाव को उपलब्ध हो जाती है, फिर कर्मबंध की अवस्था उस आत्मा में बन नहीं पाती। वर्तमान में हमारी आत्मा पिछले अनादि काल से कर्मों से संबंधित रही है। भाव कर्म और द्रव्य कर्म, ये दोनों आत्मा के साथ लगे हुए हैं। भाव कर्म है–राग द्वेष और द्रव्य कर्म हैं–पौद्गलिक स्कंध राग द्वेष ये भी आत्मा के स्वभाव हैं। ये पुद्गलों के भाव नहीं है। यह बात अलग है कि ये आत्मा के वैभाविक परिणाम हैं। एक स्वाभाविक परिणाम होता है, दूसरा वैभाविक। स्वाभाविक परिणाम अनंत ज्ञान–दर्शन के रूप में है, किन्तु वैभाविक परिणाम राग–द्वेष, ईर्ष्या–डाह आदि के रूप में हैं। कैसे ये वैभाविक बने ? एक पानी है। उस ट्यूब वैल का जो अभी खोदा जा रहा है, उससे जो पानी निकला है वह गंदला होता है। जैसे वह गंदला होता है, वैसे ही हमारी आत्मा का स्वरूप गंदला है। उस पानी को काँच के गिलास में भी लें तो गंदला ही नजर आता है। फिर यदि प्रक्रिया के माध्यम से गंदलेपन को अलग कर दिया जाये तो वह स्वच्छ–मधुर हो जावेगा। जितशत्रु राजा और सुबुद्धि प्रधान के प्रसंग में आपने सुना होगा कि जिस गटर के, खाई के कारण राजा ने नाक बन्द कर ली थी कि कैसी गंध आ रही है, उसी के संबंध में सुबुद्धि ने कहा–यह तो पुद्गलों का

परिणाम है। सुरभिगंध दुरभिगंध में और दुरभिगंध सुरभिगंध में वदल जाती है। सम्राट को लगा, यह अपने आप को कुछ ज्यादा ही अक्लमंद समझता है, तभी कह रहा है, यह तो पुद्गल का स्वभाव है। सम्राट को रोष उत्पन्न हुआ। कुछ कठोर शब्दों में उन्होंने कहा–'मंत्रिवर' ! ऐसी मिथ्या बातें करके आप स्वयं को एवं दूसरों को भ्रमित न करें। मंत्री सुवुद्धि उस समय मौन रहा तथा सम्राट को यथार्थ का वोध देने का मन ही मन निश्चिय किया। वहां से सुवुद्धि घर पहुँचा और संध्या के वक्त जल घड़े में भरवा तथा प्रक्रिया से उसे शुद्ध एवं संस्कारित किया ! उस शुद्ध जल को सम्राट जव भोजन करने वैठे तो पीने के लिए भेजा ! आज तो यह सुविधा है कि यंत्र लगाया और शुद्ध जल तैयार, पर पहले कई दिन लगते थे। एक घड़े से, दूसरे घड़े में, दूसरे से तीसरे में, उसके वाद चूना आदि कई प्रकार के पदार्थ डाले जाते तव कहीं वह जल फिल्टर होता था। उस पानी का केवल वर्ण ही नहीं वदलता था उसके गंध–स्वाद में भी अंतर आ जाता था। आप कहेंगे ऐसा कैसे होता था ? ऐसा इसलिये होता था क्योंकि गंदगी निकल जाती थी, परिणामरूवरूप पानी शुद्ध हो जाता था।

सुवुद्धि प्रधान द्वारा भेजा गया जल जव सम्राट के लिए प्रस्तुत किया गया तो सम्राट ने पीते ही पूछा–अरे ! यह जल कहॉ से आया ? नौकर घवराये। परन्तु उसने विनम्रतापूर्वक वता दिया कि वह जल प्रधानजी ने भेजा था और कहा कि आज यही पानी प्रस्तुत किया जाये। इससे कई वातें प्रकट होती हैं। एक तो यह कि पुराने समय में, पद पर रहने वाले सम्राट आशंकित नहीं रहते थे कि कोई उन्हें जहर खिला कर मार डालेगा। आज अगर राष्ट्रपति या प्रधानमंत्री को कोई आमंत्रित करता है तो क्या घर में स्वाभाविक रूप से वनी रसोई उन्हें परोसी जा सकती है ? पूरा महकमा आयेगा, जॉच करेगा या उनके ही रसोइयों की देख–रेख में भोजन तैयार होगा। कहा तो यहॉ तक जाता है कि राष्ट्रपति के लिए राष्ट्रपति भवन में भी एक स्थान पर एक रसोई नहीं वनती, अलग–अलग स्थान पर वनती है, और यह पता नहीं रहता कि वे किस जगह भोजन करेंगे ! कहाँ करेंगे इसका निर्धारण करना होता है। लेकिन सुवुद्धि ने महाराज के लिए जल भिजवाया इससे स्पष्ट है कि पहले विश्वास को महत्त्व दिया जाता था। आज स्थिति यह हो गई है कि जो रक्षक हैं। जिन्हें सुरक्षा का दायित्व सौंपा जाता है, वे भी विश्वास योग्य नहीं रह गये हैं। इसके पीछे कारण हैं आप जानते हैं कि श्रीमती इंदिरा गांधी के लिए जो रक्षक नियुक्त किये गये थे उन्होंने ही हत्या कर डाली थी। इसलिए कहा जाता है कि यदि वाड़ ही

[illegible]कर खेत को खाये तो किस पर विश्वास किया जाये ? आज के युग में तो यह बात लागू होती है 'विश्वासो नेव कर्तव्यमः' किसी का विश्वास नही करना चाहिये। पर जेन सिद्धान्त तो पूर्णतया विश्वास पर टिका हुआ है। विश्वास ही नहीं विश्वास तो सामान्य अवस्था है, वे तो श्रद्धा को स्थान देते हैं। श्रद्धा अर्थात् ऐसी भावना जहाँ सब-कुछ समर्पित कर दिया जाता है। कुछ भी बचाकर नहीं रखा जाता है। सामनें वाले ने यदि सहारा हटा लिया तो गिरूंगा या बचूंगा यह विचार भी मन में नहीं आता है। यह है पूर्ण विश्वास। यह है पूर्ण समर्पण, जिसमें यह विचार भी नहीं रहता कि यह आधार यदि खिसक गया तो क्या अवस्था बनेगी। यदि किसी कोने में श्रद्धा-तनिक सा भी अविश्वास या संदेह बचा रह जाय तो वह श्रद्धा न्यून करने वाला प्रसंग होगा। या यों कहूँ, किसी कोने में यदि अविश्वास बनाये रखा है तो वह हमें ऊपर उठने नहीं देगा। मैंने पूर्व में बताया कि स्प्रिंग यदि नीचे कील से जुड़ा है तो खींचकर छोड़ा जाने पर जिस कील पर लगा है उस पर पुनः लौटेगा वैसे ही धर्म की आराधना कितनी ही करें, पर यदि मन में अश्रद्धा का भाव कहीं अटका है तो साधना-आराधना कितनी ही करें, पर फिर भी वह आराधना फलीभूत नहीं होगी। पीछे कचरा पड़ा है इसलिए वहां पूर्ण शुद्धि हो नहीं पाती। वैसे ही पूर्ण श्रद्धा के बिना धर्म का टिकाव भी हो नहीं पाता।

हो इतस्ततः भटक रहे है, पर थकान नहीं आई। धर्म करते थकान जरूर आएगी। धर्म करने वैठे, थोड़ा स्वाध्याय करने वैठे तो नींद आती है। यहाँ कितनी जल्दी थकान आती है। और एक घंटे से दो घंटे सुना दिया तो कितनी वार घड़ी देखनी पड़ जायेगी ? एक घंटे का समय है और तीन घंटे व्याख्यान चला दें तो, अजीर्ण हो जायेगा, मन उछाला खाने लग जायेगा। क्या कारण है ? कारण है कि हमने सुनने का सही लक्ष्य नहीं बनाया है। तीर्थंकर देव उपदेश देते थे तो कई आत्माएं दीक्षित होने को तत्पर हो जाती थी। यद्यपि सारी की सारी नहीं होती थी। यदि सारी हो जाती तव तो क्रांति हो जाती पर ऐसा नहीं होता था। कइयों के मन में संसार से वैराग्य जाग जाता था। उन्हें लगता था कि हमें आगे बढ़ना है ! बहुत–से श्रावक साधु वन जाते थे। परन्तु साधु बनने के बाद भी यदि जागरण निरन्तर नहीं रहता है तो फिर वादल ऊपर आ जाया करते हैं।

मेघकुमार दीक्षित हुए इतने वैराग्य से, पर एक ही रात में सारा वैराग्य कहाँ चला गया ? ऐसा तो सोचा भी नहीं था मैंने कि मेरे साथ ऐसा होगा। क्या इसलिए साधु वना हुँ ? यहाँ तो मेरी कोई कीमत नहीं है। क्या कीमत के लिए साधु वनना चाहिए ? आज के साधुओं के मन में भी कीमत वढ़वाने की वड़ी ललक होती है। पर आप जानते हो एक वस्तु वहुमूल्य होती है, जिसकी कोई कीमत आंक नहीं सकता। पर एक वस्तु ऐसी होती है। जिसकी कीमत आंक सकते है। एक वस्तु जिसकी कीमत आँकी जाती है वह कीमती तो हो सकती है पर अमूल्य निधि नहीं साधु जीवन तो जाने दीजिये, श्रावक की एक सामायिक का मूल्य भी आँका नहीं जा सकता। पर आज तो प्रत्येक व्यक्ति चाहता है, यदि उसका मूल्यांकन होता है तो कुछ काम करे। समाज यदि कोई मूल्यांकन करे तो काम करें। मूल्यांकन न करे तो उसे काम में रस ही नहीं आता है, तव क्या ऐसा व्यक्ति वस्तुतः परमात्मा से अंतराल दूर कर रहा है ? और जव व्यक्ति अपने भीतर कीमत ऑक कर चलता है तो स्पष्ट है कि वह कीमती है। वह स्वयं को अमूल्य निधि नहीं मान रहा है ? जवकि ज्ञानी कहते हैं कि यह नर–तन अनमोल है। इसका मोल दिया नहीं जा सकता। तव भी व्यक्ति उसे पाने के वाद अपनी गतिविधि, कार्यकलाप की कीमत चाहता है। कितनी विचारणीय वात है। क्या सामायिक की कीमत होनी चाहिये ? क्या कीमत हो सकती है ? तपस्या कर ली पर व्याख्यान में दो शब्द नहीं कहे गये तो मन ऊँचा–नीचा हो जाएगा ! चैन्नई दिल्ली आदि क्षेत्रों से चलकर आयें और कोई भी संत रुख मिलाकर वात न करे, एक दिन, दो दिन, तीन दिन निकल जायें पर

एक भी लफ्ज नहीं बोले, आपने वंदन किया, महाराज स्वाध्याय में ही लगे रहे तब कैसा लगेगा ? आप कहेंगे इतनी दूर से चलकर आये पर हमें पूछा ही नहीं महाराज ने। तो मनुष्य का स्वभाव है, क्या करें । चैन्नई व दिल्ली वालों की ही बात नहीं है। चाहे जयपुर का हो, चाहे अन्यत्र का, एक, दो, तीन, चार दिन हो जायें। 10 बार आये, पर एक बार भी संत द्वारा दया पालो का शब्द नहीं सुना तो मन कहेगा मतलब ही क्या यहाँ आने से ? कोई 'दया पालो, ही नहीं बोलते ? कोई वंदन ही नहीं झेलते ? ये विचार आते हैं या नहीं ? यदि आते हैं तो विचार कीजिये कि दर्शन करने किस भावना से आये थे ? धर्म करने किस भावना से आये थे ? बड़ा कठिन काम होता है ऐसे समय में मानसिक अवस्था को नियंत्रित कर पाना। प्रशंसा को सहन करना सहज काम है पर उपेक्षा को पाकर भी विचार में न्यूनता नहीं आने देना, श्रद्धा–भक्ति में भी अंतर नहीं आने देना सामान्य बात नहीं है। प्रशंसा करे तो सोच लें कि ये महापुरुषों की महानता है, बच्चों का उत्साह बढ़ाते हैं, पर उपेक्षा सहना कठिन होता है और जिसने उपेक्षा सहकर भी श्रद्धा को कायम रखा है तो समझिये उसकी श्रद्धा बड़ी गहरी रही है।

अंजना महासती का नाम सुना होगा। पवनजी ने कितनी उपेक्षा की। कितने वर्षों तक चेहरा नहीं दिखाया। सामने पड़ जाये तो मुँह फेरकर निकल जाते। आज की कोई धर्मपत्नी हो तो कोर्ट में पहुँच जाये। 12 वर्ष तो दूर 12 माह भी भारी पड़ जायें। और वह तलाक देने कोर्ट में पहुँच जाये। पर विचार किजिये कि हमने धर्म को भी तलाक देने के लिये किसी कोर्ट का द्वार तो नहीं खटखटा दिया ? क्या हम धर्म पर अटल रह सकते हैं या धर्म को कोर्ट–कचहरी में ले जायेंगे या उसके साथ तोड़–फोड़ करेंगे ? मन में गाँठ बांध लेंगे और सवंत्सरी का प्रसंग भी आ जाये तो और सबसे तो खमत–खामणा करेंगें पर उस गाँठ को नहीं खोलेंगें ! नहीं खोलेंगें तो हो जाएगी आराधना ? आ जायेगा आत्मा में शांत–सुधारस ? लोग कहते हैं सुधारस/अमृत देवों के पास है। भूल जाइये कि अमृत नाम की कोई चीज है। कहा जाता है कि जो अमृत–पान कर ले वह मरता नहीं। वही अमृत देवों के पास होता तो वे जमीन पर नहीं आते। पी जाते। देव भी अपनी स्थिति पूर्ण कर तिर्यंच गति या मनुष्य गति के मेहमान बन जाते हैं। इसलिए समझना है, कि अमृत वहाँ नहीं है। तो कहाँ है ? जयपुर में, चैन्नई, बैंगलोर, कोलकात्ता में है ? कहाँ है ? यदि पता पड़ जाय तो लेकर पीने लग जायें। पैसा नहीं है तो कर्जा लेकर लाएंगे कि एक घूंट पी लूं। पर याद रखिये अमृत बाहर कहीं नहीं है। वह आपके भीतर है। और एक

वार उसे चख लिया, उसका पान कर लिया तो जन्म–मरण की प्रक्रिया से मुक्त हो जाएंगे। होना है मुक्त ? पर हम तो जहर पी–पी कर मशगूल हो रहे हैं। शराब पीकर मस्त हो रहे हैं। वाहर की शराव का त्याग करवाते हैं, पर मान–सम्मान की शराव की कितनी प्यालियाँ दिन–भर में पी लेते हैं, पता है ? वाहर की शराब पीकर बेभान हो जायेंगे पर मान–सम्मान की प्यालियाँ दिन–भर में, सुवह से शाम तक न जाने कितनी पी जाएंगे। जब वाहर की शराव वेसुध करती है तो क्या ये मान–सम्मान की शराब बेसुध नहीं करेगी ? उसे पीकर क्या वह आत्म–तत्व को जागृत रख पाएगा ? क्या आत्म जागृति के भाव स्फूर्त होंगे ? नहीं होगें, बल्कि ऊपर से ऊपर जड़ता की ऐसी परतें जमाते जाएंगे कि फिर हमें धर्म का नाम भी नहीं सुहायेगा !

वंधुओं ! वाहर की प्यालियाँ तो नहीं ही पीनी हैं पर मान–सम्मान की प्यालियाँ पीना भी छोड़िये। मान को चोट लगती है तो अहं को भी चोट पहुँचती है और तत्काल बैलेन्स बिगड़ जाता है। बैलेन्स विगड़ता है तो फिर एक्सीडेंट होता है। आज परिवारों में इतने एक्सीडेंट क्यों हो रहे हैं ? स्पष्ट है कि जैसे ही बैलेन्स बिगड़ता है, दो भाइयों के चूल्हे अलग हो जाते हैं। समाज में गुटवाजी शुरू हो जाती है। एक एक तरफ, दूसरा दूसरी तरफ हो जाता है। ये क्या तमाशा है ? एक तरफ आत्म–कल्याण, आत्म–शुद्धि, कर्म–विजय के लिए श्रवण करने आते हैं किन्तु दूसरी तरफ आत्मा को गर्त में गिराने और पतन में डालने के लिए कितने ही काम हो जाते हैं। तब धर्म की ओर लक्ष्य बन भी पाता है या नहीं ? जब तक नहीं वनता तव तक परमात्मा की कितनी ही प्रार्थना कर लें–

पद्म प्रभु जिन तुज मुज आंतरू रे............।

कोई लाभ नहीं होगा। वह अंतर कैसे दूर होगा ? जब हम स्वयं दूरियाँ बढ़ा रहे हैं ? जव तक इस पर रोक नहीं लगेगी, जव तक हम कारण को समझकर उस पर चोट नहीं करेंगे तव तक यह ज्ञात नहीं होगा कि मेरे व परमात्मा के वीच दूरी है।

जव अहं परस्पर टकराते हैं, तव व्यक्ति, परिवार, समाज, सभी के वीच के संबंध समाप्त हो जाते हैं। अतः हम शिक्षा लें कि यदि मान–सम्मान टकरायेंगे और उसके आधार पर झगड़ा–क्लेश खड़ा होगा तो आध्यात्मिक विकास वाधित हो जायेगा। हम समझ लें कि धर्म की परीक्षा तभी होती है, जब कोई विरोध की स्थिति आती है, तव ही पता चलता है कि हम कितने सहनशील हैं। पू. गुरुदेव फरमाया करते थे कि राजस्थान के पूर्व–मुख्यमंत्री श्री मोहनलालजी सुखाडिया को जव कोई काले झंडे दिखाते थे तो मंच से

उतरने के बाद सबसे पहले वे काला झंडा दिखाने वालों के कंधे पर हाथ रखकर उनसे प्रेम से बात करते थे जिससे वे विरोधी भी मित्र बन जाते थे। किन्तु आप ऐसी स्थिति में क्या करेंगे ? ध्यान रखिये कि रबड़ को खींचकर रखेंगे तब तो वह टूटेगा पर कोई एक ढीला छोड़ दे, या एक हाथ ढीला छोड़ दे तो टूटने से बचा जा सकेगा। वैसे ही लड़ाई एक तरफ से खींचने से नहीं होगी ! दोनों तरफ से खीचें तो तनाव बढ़ता है, और एक तरफ से छोड़ दें तो तनाव नहीं बढ़ता। हमारे भीतर ताकत न हो तो भले ही ऊपर से शांत दिखें पर जब तक भीतर तनाव है तब तक सामने वाले पर भी प्रभाव पड़ेगा। किन्तु भीतर भी यदि शांत हैं, तो फिर देखिये कि क्या परिणाम निकलता है। सब तरफ शांत सुधारस का सागर लहरायेगा। कोई तनाव नहीं होगा। वह सोचेगा, मुझे क्या करना है ? कोई आकाश में उड़े तो मैं भी क्यों उडूं ? कोई पानी में डूबे तो मैं भी क्यों डूबूं ? कोई अहंकार करता फिरे तो मुझे क्यों करना ? यह भी यदि हम स्वीकार लें तो तनाव भी नहीं बढ़ेगा पर हम करते नहीं। यदि ढीली छोड़ दी बात तो सामने वाले का अहंकार बढ़ नहीं पाएगा। ये सब तो जीवन–व्यवहार की और मनोविज्ञान की बातें हैं। इन्हें यदि जीवन में घटित कर लें तो बहुत शांति, आनंद, संतोष प्राप्त कर सकते हैं। पर होता उल्टा है, यदि धर्म सुनकर परिणमन जहर–रूप में होता है तो वह हमें आनंद, सुख–शांति देने वाला नहीं बनेगा। तब चिंतन करना है कि धर्म किस लिए करना व किसलिए सुनना ? जब चिंतन सही बन जायेगा तभी जीवन में सुख–शांति, आनंद की धारा प्रवाहित हो पायेगी।

☆☆☆

18.8.2000

आलोचना का आलोकित पथ

पदम प्रभु जिन तुज मुज आंतरू रे.......।

परमात्मा और हमारे बीच द्रव्यकृत, क्षेत्रकृत कालकृत और भावकृत अतंर हैं। क्षेत्रकृत और कालकृत अतंर तो एक सिद्ध भगवान से दूसरे सिद्ध भगवान में भी हो सकता है। उस अतंर की यहाँ विवक्षा नहीं है। द्रव्य क्षेत्रकृत आदि दूरियाँ, कष्टप्रद नहीं मानी गई हैं, परन्तु भावगत दूरी नहीं होनी चाहिये। भावों से अतंराल नहीं होना चाहिये। जितने भी सिद्ध भगवान हैं, भावों से उनमें कोई दूरी नहीं है। उसी भावगत दूरी को दूर करने के लिए साधक परमात्मा के चरणों में उपस्थित है।

भावनात्मक ऊँचाइयाँ प्राप्त करने में विशेष सावधानी की अपेक्षा रहती है। वहुत वार साधक साधना की ऊँचाइयों पर पहुँच कर भी अपनी चित्रवृत्रियों को व्यवस्थित रख नहीं पाता है। उस स्थिति में ऊँचाइयों पर चढ़ा साधक गहरे गर्त में गिर भी सकता है। इसे एक दृष्टांत से समझे। चित्त व संभूति दो भाई साधना मार्ग पर अग्रसर थे किन्तु संभूति मुनि के मन में रोष आ गया। उसी रोषवश उन्होंने लब्धि का प्रयोग कर डाला जिस के कारण धुएं के गोटे के गोटे निकलने लगे और नगर धुएं से आच्छादित होने लगा। चक्रवर्ती सम्राट ने विचार किया, यह अकारण विपदा कहाँ से आ गई ? जव उन्हें ज्ञात हुआ कि मुनि के कुपति होने से यह क्रिया हुई है तो वे अपनी महारानी श्रीदेवी के साथ वहाँ पहुँचे उनकी अनुनय–विनय से मुनि का क्रोध तो शांत हो गया किन्तु उनके अंतर में एक दूसरी ही भावना जग गई। चक्रवर्ती और श्रीदेवी को देखकर उनके मन में यह कामना जग गयी कि यदि मेरी साधना का मुझे कोई फल मिले तो इस महारानी जैसी महारानी का मुझे भी संयोग मिले। विचार कीजिये कि जिस उत्कृष्ट साधना

से मुनि ने जीवन में इतनी ऊँचाइयाँ तय की थीं वह निष्फल हो गईं और एक भौतिक संकल्प ने उन्हें प्राप्त उनकी सारी ऊँचाइयॉ से रसातल में ला पटका। चित्त मुनि ने उन्हें समझाने का वहुत उपक्रम किया, किन्तु नहीं अध्यवसायों में कालधर्म को प्राप्त होने वे ही संभूति मुनि देवलोक के दिव्य सुखों का उपभोग कर ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती के रूप में उत्पन्न हुए।

पहले किए गए निदान के परिणामस्वरूप चक्रवर्ती का पद प्राप्त हुआ था अतः ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती मुनि नहीं वन पाए एवं भोगों में आसक्त होकर उन्हें सातवीं नरक का मेहमान वनना पड़ा। भगवान् महावीर से पूछा गया कि कोई साधक अपने जीवन में साधना की ऊँचाई प्राप्त कर ले किन्तु उसी साधना में चिन्त–मग्न अवस्था के कारण गहरे गर्त में गिर जाय तो वह साधक क्या फिर साधना की ऊँचाई प्राप्त कर सकता है ? भगवान् ने कहा असंभव नहीं है, संभव है। पूछा गया–किस प्रकार संभव है ? तो भगवान ने कहा–'आलोचना' करने से। भगवान् से फिर पूछा गया– "आलोयणाए णं भंते। जीवे किं जणयइ ?" भंते आलोचना से जीव को क्या लाभ होता है तो भगवान ने उत्तर दिया–आलोयणाएं णं माया–नियाण–मिच्छांदसण–सल्लाणं, मोक्खमग्गविग्घाणं, अणंतसंसार वद्धाणाणं उद्धरणं करेइ।....... आलोचना करने से जीव माया–निदान व मिथ्यादर्शन शल्य को दूर कर लेता है। ये तीनों मोक्ष मार्ग के विघातक एवं अनंत संसार को बढ़ाने वाले हैं। इनके दूर होने अथवा इनकी समाप्ति होने का तात्पर्य है कि यदि अनंत संसार बढ़ाने वाले कोई कर्म या कारण हैं, तो उनको हमने रोक दिया, समाप्त कर दिया है। वे रुकते हैं–आलोचना के माध्यम से।

साधना की ऊँचाई से रसातल में पहुंचने के तीन सूत्र हैं। सॉप–सीढ़ी का खेल आपने देखा होगा कि सीढ़ी चढ़े तो आकाश पर चढ़ गये, पर सॉंप ने डस लिया तो हो सकता है 99–98 से 1–2 पर लाकर पटक दे। यह अवस्था हमारे अध्यवसायों की भी रही है। जो जीव उपशम श्रेणी के माध्यम से वीतरागता प्राप्त कर, वीतरागता का अनुभव कर लेते हैं किन्तु उस गुणस्थान की स्थिति पूर्ण होने पर वहां से गिरता है व बीच में न संभले तो मिथ्यात्व भी प्राप्त कर सकता है। सामायिक आने में समय लगेगा किन्तु उससे भी कम समय में, अन्तर्मुहूर्त के भीतर–भीतर वीतरागता से मिथ्यात्व के दलदल में पहुँच सकता है। इसका कारण क्या है ? इसका कारण है जीव के अध्यवसाय। जिन अध्यवसायों से जीव नें कर्मों का उपशम किया उन्हें दबाया, उन अध्यवसायों के स्थिर न रह पाने के कारण वे ही कर्म समय पाकर फिर अपना प्रभाव दिखाते हैं और आत्मा को गर्त में डालते हैं।

हम सोचते हैं, ऐसा कैसे हो गया ? कहाँ वीतरागता, कहाँ समता और कहाँ मिथ्यात्व का दलदल ? वहुत–सी आत्माएं अप्रमन्त्त भावों में अग्रसर होती हुई वीतरागता का अनुभव कर मोक्ष में भी पहुंच जाती हैं। उसका कारण भी आत्मा के अध्यवसाय हैं जिनसे जीव कर्मों को समाप्त करता है और मुक्ति को वर लेता है। इसलिए भगवान महावीर ने कहा कि साधना की ऊँचाई पर चढ़ते समय इन तीन कंटीली झाड़ियों का ध्यान रखने की आवश्यकता है। ये हैं–माया–निदान–मिथ्यादर्शन शल्य। इन तीनों में यदि तुम्हारी चादर अड़ जाये तो नीचे लाये विना नहीं छोड़ेगी। इसलिए पहाड़ पर चढ़ते ध्यान रखो, कोई काँटा चुभे नहीं, न कपड़े ही पकड़ ले। बाहर का कपड़ा फट गया तो कोई वात नहीं, किन्तु अन्दर चुभ गया तो भले ही ऊँचाई पर चढ़ जाओ किन्तु आना नीचे ही पड़ेगा, और ऊँचाई पर चढ़ नहीं पाओगे !

ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती सम्राट बन गये। श्री देवी का योग मिल गया। विषयवासना के दलदल में उलझ गये। चित्तमुनि, जो पूर्वभव के भ्राता थे, पहुँचे, उपदेश दिया। परन्तु ब्रह्मदत्त ने कहा–मुनिराज ! आप जो कह रहे हैं, वह मैं समझ रहा हूँ, किन्तु मेरा चित्त वासना के दलदल में, इतने गर्त में पहुँच गया है कि वहाँ से निकलना संभव नहीं हो पा रहा है। यह शरीर, ये कामभोग, यह संसार अनित्य हैं, ये बातें मैं जानता हूँ। आप भी जानते हो कि संसार के कामभोग स्थायी रूप में मिलने वाले नहीं है। यदि कामभोग के साधन मिल भी गये तो जरूरी नहीं कि शरीर भी साथ दे। कई व्यक्ति जवानी में ही खाट पकड़ लेते हैं तब सारे भोग के साधन पड़े रह जाते हैं, क्योंकि शरीर साथ नहीं दे रहा होता है। ब्रह्मदत्त भी कह रहा था कि ये भोग अनित्य हैं। आप और हम भी यह मानते हैं, पर क्या कारण है कि अपने भीतर वह शक्ति जाग्रत नहीं कर पाते कि उनसे विरक्त हो सकें। कारण हैं–हम भीतर के कॉटे दूर करना का प्रयत्न ही नहीं कर पा रहे हैं। जव तक ये कांटे दूर नहीं होंगे तव तक शक्ति का संचार भी नहीं होगा। शक्ति का संचार करना है तो कॉटो को दूर करना ही होगा। एक फूल है उसकी किसी पत्ती में कॉटा चुभ जाये तो वह खिल नहीं सकता, मुरझा जायेगा, वैसे ही हमारे चित्त में कॉटे हैं तो चित्त खिल नहीं सकता। क्योंकि शक्ति पहुंचती है पर वे कॉटे उसे शक्ति को छिन्न–भिन्न कर देते हैं। अमरबेल हरी–भरी होती है, उसे किसी वृक्ष पर डाल दिया जाय तो वह स्वयं तो हरी–भरी रहती है विकास करती रहती है किन्तु हरे–भरे वृक्ष को एकदम सुखा देती है उसके भीतर की हरियाली को नष्ट कर देती है। वैसे ही शल्य अमरबेल के रूप में होते हे। यदि इन्हें स्थान दे दिया तो वे भीतर

ही भीतर पनपते रहते हैं जब तक इन्हें दूर न करें, तब–तक ये हमारे जीवन का आध्यात्मिक रस, शांत सुधारस, सोखते रहेंगे। इसलिए प्रभु महावीर ने बोध दिया कि यदि पुनः ऊंचाई पर चढ़ना है तो आलोचना के माध्यम से अपना शुद्धिकरण कर लो। सबसे पहले तो चढ़ते हुए सावधानी रखो कि कोई शल्य लगे नहीं। कदाचित् लग जाय तो उसका उद्धरण किया जाय अन्यथा वह कष्टदायी हो सकता है जैसे पाँव में एक काँटा भी चुभ जाता है तो वह गति को अवरूद्ध कर देता हैं, वैसे ही शल्य आध्यात्मिक साधना में अवरोधक बनता है, और आध्यात्मिक साधना खण्डित हो जाती है,

दशाश्रुत स्कंध में एक वर्णन मिलता है कि मगध सम्राट श्रेणिक प्रभु महावीर के दर्शन के लिए उपस्थित हुए। महासती चेलना भी साथ थी। जब वे वंदन–नमस्कार कर पर्युपासना कर रहे थे तब प्रभु महावीर के अन्तेवासी कई मुनियों व महासतियों ने उन दोनों को देखा। उनके रूप–लावण्य को देख कर उनके अंतर के तार झंकृत हो उठे। वे उनके प्रति आकृष्ट हो गए। उन साध्वियों के मन में कामना जगी कि हमारी साधना का यदि फल मिले तो हमें श्रेणिक जैसा पति मिले और उन संतों के विचार बने कि हमें चेलना जैसी पत्नी मिले। देखिये, विचार कहाँ से कहाँ पहुँच जाते हैं। ऐसी होती है अस्थिर चित्त की विचित्र अवस्था।

उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया है– 'रहणेमी भग्गचित्तों' राजमती को देखकर जिसके विचारों में उतार–चढ़ाव आ गया। कहाँ तो चरमशरीरी उसी भव में मुक्ति पाने वाले थे, किस शिखर पर चढ़े हुए थे और कहां राजमती से करने लगे भोग याचना ? वहाँ तो महासती राजमती ने शिक्षा रूपी लगाव से उनको पुनः साधना पथ पर आरूढ़ करा दिया था। महासती ने कहा–"धिक्कार है। इस असंयम रूप जीवन को जीने से तो संयम में रहते हुए मरना श्रेयस्कर है।" चरमशरीरी आत्मा की भी यह अवस्था बन सकती है तो आज के छोटे–बड़े साधकों की स्थिति का तो कहना ही क्या ? प्रभु महावीर के अंतेवासी शिष्यों की भी क्या स्थिति बन गई। जो श्रेणिक और चेलना जैसे पति–पत्नी की कामना में अपने संयम धन की नीलामी करने लग गए। घट–घट के अंतरयामी प्रभु महावीर ने अनुभव किया। उन्होंने उन्हें संबोधित किया। यह नहीं कि यह दोष सेवन किया है तो प्रायश्चित लो, यह नहीं कहा। भगवान ने उनके सामने निदान का स्वरूप प्रस्तुत किया कि निदान करने से साधक कैसे भटक जाता है। भगवान के उपदेश, शिक्षा को सुनकर जिन साधु–साध्वियों के मन में चल–विचल अवस्था बनी थी, वे अतःकरण से पश्चाताप करने लगे कि

हमने कैसे–कैसे विचार कर लिये थे। निदान का फल ऐसा है। हमने ऐसा निदान कर लिया, अव हमारी आत्मा का क्या होगा। वे आत्माएं कहती हैं प्रभु से–भगवन् ! हमारी आत्मा का कल्याण करें ! प्रभु ने कहा–आत्मा का पतन व कल्याण तुम्हारे हाथ में है। चाहो वह कर सकते हो। सुवह का भूला शाम को घर आ जाये तो वह भूला नहीं कहलाता। तुम थोड़ी चल–विचल अवस्था में आ गये थे। किन्तु घवराने की आवश्यकता नहीं। यदि वीमारी हैं तो उपचार की भी व्यवस्था है। शरीर की बीमारी के लिए शरीर का इलाज होता है तो मन की वीमारी के लिए मन का और आध्यात्मिक वीमारी के लिए आध्यात्मिक उपचार होता है। तुम आलोचना–निन्दा–गर्हा करो। आलोचना के माध्यम से निदान जन्य दुष्कृत शांत हो सकते हैं। वे काँटे निकल जाएंगे और साधना पूर्ववत्, यथावत् गतिशील हो जाएगी। उन्होंने आलोचना–निन्दा कर ली और अपनी आत्मा को भावित कर लिया। जिससे भटकी हुई आत्मा को पुनः मार्ग में स्थापित किया जा सकता है। आज आलोचना हम भी करते हैं चौराहे–चौराहे पर करते है। पाँच व्यक्ति मिले नहीं कि आलोचना शुरू कर देते हैं परन्तु कैसी आलोचना ? वह ऐसा है, वह वैसा है। वहाँ दूसरों को देखने चले हो तो पहले अपने को अपने घर को देख लो। स्वयं को अपने घर को देखने की तैयारी नहीं हो पाती है कि हमारे महल में कितना कचरा भरा पड़ा है। वहाँ दृष्टि नहीं जाती, किन्तु दूसरे के घर में क्या हो रहा है उसमें मन लग जाता है। हमें रामायण–महाभारत सुनने में आनंद आता है, पर हमारे स्वयं के भीतर रामायण के पार्ट चलते हैं, महाभारत भी आ जाता है उसकी चिन्ता नहीं करते। यह मत समझिये यह परिवार के वीच ही रहा हुआ है, हमारे भीतर नहीं है। हमारा ही एक चित्त राम है, एक चित्त रावण हैं और वहाँ संघर्ष चालू हो जाता है। उदाहरण लेना है तो प्रसन्नचन्द्र राजर्षि से लो जो स्वयं ही तीर चलाने वाले है और घात करने वाले हैं किन्तु न तो वहाँ तीर है, न जिनकी घात की जा रही है वे ही है। पर इन सवकी विकुर्वणा उन्होंने अपने ही चित्त में कर ली। जैसे देवों में वैक्रिय शक्ति होती है जिससे वे अनेक रूप वना लेते हैं, वैसी वैक्रिय शक्ति भले ही हमारे पास में न हो पर मन अनेक रूप वना सकता है। और एक रुप अनेक रूपों पर प्रहार करने लग जाता हैं पर स्वयं की अवस्था का अनुभव नहीं कर पाता। वह तो प्रसन्नचन्द्र राजर्षि [illegible] जिनका सिर पर हाथ गया और चिन्तन वदल गया है। [illegible] सृष्टि वदल गई। जो आत्मा सातवीं नरक की तैयारी कर [illegible] आत्मा केवलज्ञान की आभा से आलोकित हो गई। [illegible]

में भी दृश्य नहीं बदलते होंगे। फिल्म में भी ढाई घंटे लग जाते हैं, पर वहाँ कुछ ही क्षणों में भारी परिवर्तन हो गया। एक क्षण क्या है, और अगला क्षण क्या है, किसी ने नहीं देखा ! केवली ने देखा है, पर हमें पता नहीं। हमें तो यह भी ज्ञात नहीं कि अगला कदम हम कहाँ रखेंगे वह पूर्व में बढ़ेगा या पश्चिम में लौटेगा। वह उत्तर में बढ़ेगा या दक्षिण में। जब इतना भी नहीं जानते हैं तो आगे की लम्बी–चौड़ी कल्पना करने से क्या फायदा ? पर कल्पना किये बिना भी चैन नहीं पड़ती। इसलिए ज्ञानी कहते हैं–

'वर्तमान वर्ते सदा ते सुखी जग माँय।'

अतीत में मत उलझो। भविष्य की शेखचिल्ली–सी कल्पनाओं में मत बहो, वर्तमान को स्वीकार कर लो। हमें चिन्तन–मनन करना है। कि वस्तुतः अपने चित्त की अवस्था का कुछ अनुभव कर पा रहे है या नहीं। चित्त का क्या कुछ रूप उजागर हो रहा है, वह किस दिशा में प्रवाहित हो रहा है यह अनुभव कर पा रहे हैं या नहीं ?

यह बात अलग है हम थोड़ा–सा सुन लेते हैं और मान लेते हैं हमने बहुत जान लिया। पर वीतराग समुद्र के सिद्धान्त की गहराई में उतरें तो ही मालूम होगा कि उस समुद्र में कितने हीरे, पन्ने, मोती, माणक भरे पड़े हैं। लेने वाला पुरुषार्थ करे तो अपना भण्डार भर सकता है पर रुचि ही न हो तो चाहे कितने भी हीरे–पन्ने हों उसके किसी काम नहीं आते। इसी प्रकार यदि रुचि नहीं है तो कितने भी अच्छे व्याख्यान दिये जाते हों, मन नहीं लगेगा। पहले सुनने की इच्छा जाग्रत हो तो जो विषय सामनें आता है मन उसे ग्रहण करने के लिए तैयार रहता है। जैसे प्यास लगती हैं, तो पानी–पीने की इच्छा बनती है। वैसे ही हमारे मन में आध्यात्मिक प्यास जगे तो वह शांत सुधारस पीने की तैयारी में रहेगा। यदि नहीं, तो मन कुछ अन्यथा तो करेगा ही क्योंकि वह खाली नहीं रह सकता।

एक सर्वोदयी मामाजी थे। उनके घर उनकी भाणेज पहुँची। मामाजी के घर का नियम था कि घर के सदस्य बारी–बारी से चक्की चलायें। भाणेज जो पहुँची थी वह आधुनिक शिक्षा प्राप्त थी। कहा–आपके सिद्धान्त पसन्द हैं पर यह क्या पुराणपना है ? युग कहाँ चला गया, 21वीं सदी में, और आप घट्टी लेकर सारे घर को परेशान करते हैं। एक स्विच ऑन करते ही 30–40 किलो या जितना अनाज चाहिये, उतना पीसा जा सकता है। इसमें कितना समय चला जाता है। ऐसे तर्क भी होते हैं पर ऐसे तर्क यदि महाराज को दें तो फिर महाराज आकाश में उड़ने लगेंगे। पैदल चलने में कितना समय लग जाता है। लेकिन जब आकाश में उड़ेंगे तो

चैन्नई जाने में कितना कम समय लगेगा ? फिर ऐसी हालत भी बनेगी कि महाराज भी सोचने लगेंगे कि श्रावकों का भी आग्रह है तो आग्रह स्वीकार कर लिया जाय,। उन्हीं का जूता और उन्हीं का सिर। देने वाला दे रहा है। अपने को क्या है ? पैर पैदल चले तो पूरे भारत में भी धर्म–प्रभावना कर नहीं पाएंगे। साधनों के संयोग से तो विश्व–भर में प्रचार हो जाएगा। समय व युग की बात करें तो कई बातें सामने आ सकती हैं। मामाजी ने कहा–अभी तुमने इसका आनंद नहीं लिया है, थोड़ा चला कर तो देखो ! वह बैठी। थोड़ी चलाई। थोड़ी देर तो चली फिर वह चली नहीं। मामाजी ने कहा–बेटी, ऐसे ही नहीं चलती है चक्की। इसके भीतर दाने डालेगी तो चलेगी, नहीं डालोगी तो दोनों पाट घिसेंगे। इनमें आग पैदा हो सकती है पर सर्जन नहीं हो पाएगा। चक्की के भीतर दाने डालते रहो तो मनों आटा तैयार हो जायेगा, नहीं डालें तो वहाँ आग पैदा हो सकती है। यह तो रूपक हो गया, किन्तु इसे भी आप आत्मा व जीवन के साथ जोड़ें–मन के पाट चलते रहते हैं। उनमें स्वाध्याय की सूक्ति डालकर पीसने का काम दिया तो मन काम करता रहेगा। सूक्तियों को नहीं डाला, ऐसे ही मन चलाते रहे तो वह चतुर्गति में भटकाने वाला बनेगा। आत्म–कल्याण की दिशा में नहीं बढ़ पायेगा। स्वाध्याय जीवन का महत्त्वपूर्ण अंग है। वह करेंगे तभी अलौकिक चिन्तन को प्राप्त कर पाएंगे। नहीं तो हमारी गति कितनी भी हो, हम कितने आगे बढ़े हैं इसका भी अनुमान नहीं लगा पाएंगे !

स्वाध्याय के साथ वाणी विवेक भी आवश्यक है। इसके लिए मन में संयम और सहिष्णुता तो हो परन्तु उतावलापन बिल्कुल न हो। जो बात कही जा रही है जब तक उसे पूरा सुन न लें तब तक कथनकर्ता के भाव एवं मन्तव्य को भली प्रकार समझ पाना संभव नहीं होता। इसलिये कोई भी बात पहले पूरी गंभीरता से सुन लेनी चाहिये फिर उसका जबाब देना चाहिये। हम आधी सुनें, आधी न सुने और तैश में आ जायें तो यह उचित नहीं है। सामनें वाला चाहे आक्रोश में कह रहा हो, विपरीत कह रहा हो पर पूरा शांत भाव से सुनें बीच में उखड़ेंगे तो पूरा सुन नहीं पाएंगें, और समुचित उत्तर भी नहीं दे पायेंगे। समुचित उत्तर देना है तो शांत भाव से सामने वाले के विचार सुनों, फिर उत्तर दें। वह भी शांत भाव से। राजस्थान की ही बात है। हालाकि अब तो बदलाव आ गया, पर पहले किसी परिवार में बात हो जाती तो एक भाई दूसरे भाई से कहता– भाई सा. हुक्म ! आप ऐसा मत बोलो सा. नही तो म्हारे पैर की जूती आपके माथे पर बिराजेगी। लड़ाई भी करते तो भी बोली कैसी ?

श्रावक के लिए भाषा विवेक बताया है। छोटे–छोटे बोल बताये हैं, कि पहले बोले श्रावकजी थोड़ा बोले, दूजो बोले काम पड्याँ बोले। यह नहीं कि जो आवे उसे ही परामर्श देने लग जायें। यह बात समझ लो, यह वाणी विवेक और सम्यक् व्यवहार की बात है। जब तुमसे कोई राय मांग ही नहीं रहा है तो क्यों राय देते हो ? क्यों अपने शब्दों को बिखेरते हो ? वैसे भी उतावली में बात करने वाले या बिना कारण और अनावश्यकता बोलने वाले का कोई सम्मान नहीं करता, न उसकी बात को महत्त्व ही दिया जाता है। इसलिये श्रावकजी के लिये कहा है–मीठा बोले और सूत्र–सिद्धान्त के अनुसार बोलें। जो बोलें उसकी समीक्षा करके बोले। पर ऐसा भी नहीं कि बोलना ही नहीं। परिवार में रह रहे हैं तो बोलना पड़ता है। मुँह मिला है तो वोलते हैं पर बोली ऐसी बोलें जो आवेश से रहित हो, जिससे सामने वाले को क्लेश नहीं हो। अपनी बात शांतिपूर्वक कहें। बात छोटी हो और आप आपे से बाहर हो जायें तो फिर पश्चात्ताप करना पड़ता है। ग्लानि भी होती है कि मुझे पहले ध्यान क्यों नहीं रहा। जैसे थोड़ा सा स्क्रू ढीला रह जाये तो मारुती कार रुक जाती है वैसे ही बिना विचारे बोल हमारे लिए नुकसानदेह, बन सकते है हम स्वयं चिन्तन मनन करें, पर की आलोचना छोड़ें, अपने भीतर अनुभूति करें, अपनी समीक्षा स्वयं करें कभी लाग–लपेट की वात नहीं करे। अपनी त्रुटि देखें ! महासती मृगावती जी को उपालंभ मिला तो वे सोचने लगी ओ हो ! मेरे कारण गुरूवर्या जी को उपालंभ शब्द कहने पड़े ! कैसा चिन्तन था उनका नहीं तो गालियार घोड़े को कितने ही कोड़े पड़े पर मार्ग पर नहीं आता। मृगावती सही मायने में आलोचना में उतरी थीं। अंतर का अनुभव किया था और दुनिया में चाहे रात हो पर वे केवलज्ञान के आलोक से आलोकित हो गईं। अब भगवान् महावीर के दर्शन करने भी पहुँचने की आवश्यकता नहीं रही थी। वहाँ रात्रि में वहीं से देख रही थी। क्षेत्र से भले दूरी हो पर भाव थे–

'तू सो प्रभु, प्रभु सो तू है।'

हम भी ऐसे केवलज्ञान से आलोकित हो सकते हैं किन्तु ऐसी आलोचना वने तव। भगवान ने स्पष्ट कहा है–आलोचना से मोक्षमार्ग में विघ्नकारक और अनंत संसारवर्द्धक माया शल्य, निन्दा शल्य और मिथ्यादर्शन रूप शल्य को निकाला जा सकता है और ऋजु भाव को प्राप्त किया जा सकता है। निन्दा से जो पश्चात्ताप होता है वह मोहनीय कर्मों का क्षय करने वाला तो वनता ही है, गर्हणा से प्रशस्त योग प्राप्त कर अनंतघाती पर्यायों का क्षय भी करता है (उत्तराध्यान सूत्र 29–5–6)। इस प्रकार परमात्मा और

धर्म—स्थापना का मार्ग

श्री सुपार्श्व जिन वंदिए...........।

माइक मौजूद है, पर सेल–बैटरी यदि डाउन हो जाये तो माइक काम नहीं आयेगा। यदि माइक को काम में लेना है तो देखना होगा कि बैटरी कैसी है ?और बैटरी से माइक तक जो वायर ले जा रहे हैं वे सही है या नहीं। बैटरी, वायर, माइक, तीनों चीजें सही हैं तो ही माईक से ध्वनि प्रसारण की सुविधा प्राप्त की जा सकती है। किन्तु तीनों में से एक भी यदि गड़बड़ हुआ तो ध्वनि का विस्तार नहीं हो पाएगा। जैसे ध्वनि विस्तार के लिए इन तीनों उपकरणों का सही होना आवश्यक बतलाया गया है वैसा ही व्यक्ति के साथ भी है। हम भी अपने गले से ध्वनि प्रसारित करते हैं। इसमें भी अवयवों का सही होना आवश्यक है। क्योंकि यदि ध्वनि विस्तार करने वाले अवयव शिथिल हो जायें तो आवाज का लम्बी दूरी तक प्रसार या विस्तार नहीं किया जा सकता। यह सब तो ठीक है परन्तु विचारणीय यह है कि ध्वनि विस्तृत किसलिए करना ? यदि बात स्वयं व्यक्ति से संबंधित हो तब तो उच्चारण भी नहीं करना होगा। क्योंकि वह मन ही मन में सब समझ सकता है। विस्तार इसलिये करना होता है। जिससे कि बात सामने वाले के कानों में प्रवेश कर जाय। बात या ध्वनि और ध्वनि का विस्तार, यह तो रूपक की बात हुई, मुख्य बात यह है कि बात को किस प्रकार अधिक से अधिक दूसरों तक पहुंचाना। पहुंचाना कानों तक ही नहीं, कानों के माध्यम से मस्तिष्क तक प्रभावी ढंग से पहुंचाना। इस प्रकार पहुंचाना कि मस्तिष्क में बात की सार्थक एवं सशक्त प्रतिक्रिया हो। बात को कानों तक पहुंचाना तो मात्र एक भौतिक प्रक्रिया है क्योंकि कानों से ही वह मस्तिष्क तक पहुंचती है, अतः उद्देश्य होता है बात को मस्तिष्क तक प्रभावी

ढंग से पहुंचाना। विचार की वात यह है कि कानों में प्रविष्ट कराने के लिए जितने प्रयास किये जा रहे हैं उतने मस्तिष्क में प्रवेश कराने के लिए नहीं जो कि उद्देश्य होता हैं कानों से कम भी सुनाई पड़ता हो तो श्रवणयंत्र लगा लेते हैं वह भी क्या है ? है तो कानों में ही प्रवेश कराने के लिए श्रवण कराने के लिए यंत्र। माइक लगा है पर मस्तिष्क सुनने को तैयार नहीं तो माइक व श्रवणयंत्र वेकार हैं। वे मुख्य उद्देश्य की पूर्ति नहीं कर सकते। पहले देखना होगा कि मस्तिष्क सुनने के लिए तैयार है या नहीं ? यदि नहीं है तो चाहे कितनी भी आवाज वुलन्द कर ली जाये, कान उस ध्वनि को सुन नहीं पाएंगे। यदि मस्तिष्क तैयार है तभी कान में आने वाली ध्वनि को सुना जा सकता है, लाभ उठाया जा सकता है

सुनने–सुनने में भी अंतर होता है। कुछ सुना हुआ दूसरे कान से निकाल दिया जाता है, कुछ सुने को अनसुना कर दिया जाता है और कुछ सुने में रस लिया जाता है, उसे वड़ी रुचि से सुना जाता है और उसमें भी नये, अनकहे–अनसुने अर्थों और भावों की सृष्टि कर उसे पुष्ट कर लिया जाता है। इस वात को समझें कि यद्यपि सुनने में वहुत वातें सुनी जाती हैं, किन्तु हमारा मस्तिष्क किन–किन वातों को सुनने को तैयार होता है ? यदि लड़ाई झगड़े की वात है, निन्दा–विकथा की वातें है तो देखिये मस्तिष्क कितनी जल्दी शव्द पकड़ता है। या उनमें रस या रुचि लेता है। दो व्यक्ति लड़ रहे हैं, गुत्थमगुत्था हो रहे हैं, और अनाप–शनाप उल्टा–सीधा सव वोल रहे है तो सुनने के लिये कितने तैयार हो जायेगें ? वहाँ मस्तिष्क कितनी जल्दी तैयार हो जाता है। लड़ाई क्यों हुई, इससे मतलव नहीं पर ये कितनी वढ़ सकती है क्या रूप ले सकती हे, कितनी देर चल सकती हे, इसमें रस लेने वाले ज्यादा होते हे। ऐसी सलाह देने वाले भी होते हैं, कि इसने तुम्हारा अपमान किया है अतः तुम्हें अव कोर्ट में जाना चाहिये और मान–हानि का दावा लगा देना चाहिये। और देखिये भगवान महावीर का सिद्धान्त, ठीक इससे उल्टी वात कहता है जो हमारे मान की हानि कर दें, जिसने हमारे भीतर से मान को निष्कासित कर दिया, मान के फन को कुचल दिया, उसे गले लगा लो। समझने की वात यह हे कि मान की हानि कैसे होती हे ? मान–हानि हम किसको मान रहे हे ? किसी ने प्रतिष्ठा पर प्रश्नचिन्ह लगा दिया तो हमे लगता हे कि उसने मान–हानि कर दी। तो मान–हानि हो गई क्या ? इसे समझिये। यदि मान को छोड दिया तो हानि मे नहीं रहेंगे पर प्रतिष्ठा के प्रश्न को खडा कर दिया तो हानि होगी। और जब तक उसे खडा किये रहेंगे हमारे मस्तिष्क मे मान की ध्वनि गुंजित होती

रहेगी और दूसरी ध्वनि सुन नहीं पायेंगे। हम बातें कितनी बड़ी करते हैं, पर हमारा कद कितना है, यह नहीं देखते। बातें हम आकाश की करेंगे पर कद हमारा इस धरती पर टिके वैसा भी है या नहीं, यह नहीं सोचेंगे बात करने से पूर्व कद को पहचानें। यदि कद न पहचानें और केवल बात लेकर चले तो सोचना होगा कि मान की बात समझ में नहीं आई है। हमारा कद कितना उठेगा, या नीचे जाने वाला है। यह भी हम नहीं समझ पायेंगे बच्चा जब जन्म लेता है फिर जब थोड़ी समझ पकड़ता है तभी से उसके मस्तिष्क में कौन से संस्कार भरे जाते हैं ? आज तनाव की बातें उसको जन्म से ही घूंटी में दे दी जाती हैं। इस प्रकार जन्म से ही उसे तनाव में लाने की व्यवस्था कर दी जाती है। कहा जाता है कि जैसी घूंटी दी जाती है बच्चा वैसा ही बनता है। यदि कभी बच्चा बिगड़ जाये तो पूछा जाता है कि घूंटी किसने दी थी। उसको जैसा संस्कार दिया जाता है, वैसा ही वह बन जाता है। अतः यह समझ लें कि मुख्य बात संस्कारों की है।

आचार्य देव श्री नानालाल जी म. सा. संस्कारों के निर्माण को पहली आवश्यकता मानते थे। अपने इन्दौर चातुर्मास को सत्रह सप्ताहों में बांट कर उन्होंने उसे संस्कार क्रान्ति चातुर्मास का ही रूप दे दिया था। इस प्रकार उनके प्रवचनों की जो श्रृंखला बनी उसका एक रूप 'संस्कार क्रान्ति' शीर्षक के अंतर्गत प्रकाशित उनके प्रवचनों के संकलन में देखा जा सकता है। बच्चों को सुसंस्कार मिलने चाहिये, यह उनका उद्‌बोधन था। वे यह भी चाहते थे कि संस्कार अपने धर्म और अपनी संस्कृति के अनुरूप ही मिलें। क्या हम ऐसा कर पा रहे हैं ? गहराई से सोचने का विषय है कि उनके आदर्श और अपने लक्ष्य की पूर्ति के प्रति हम कितने गंभीर हैं।

एक सर्वेक्षण से पता चला है कि ईसाई समाज की तरफ से भारत में सार्वजनिक संस्थाओं को 12000 करोड़ रुपयों का अनुदान प्राप्त होता है और अपने धर्म के संस्कार डालने तथा उसके अनुरूप शिक्षा प्रदान करने में वे सफल हो रहे हैं। उनकी साख बनी है और उनकी आवाज सुनी जाती है। इसके विपरीत जैन समाज 14,000 करोड़ रुपयों का अनुदान प्रदान करता है परन्तु उसकी आवाज़ नहीं सुनी जाती है। कारण है जैन समाज की संचार क्षमता और संचार शक्ति दुर्बलता। या तो बैटरी डाउन है, या मॉइक ठीक नहीं है या वायर–कनेक्शन सही नहीं है। अवश्य कहीं न कहीं कोई गड़बड़ है अन्यथा 14,000 करोड़ रुपये देने वालों का उनकी संस्थाओं व उनके संस्थानों पर आधिपत्य होता। पर ऐसा नहीं है। मुख्य बात तो यही है कि जैनों को पैसा कमाने से फुर्सत नहीं है। वे पैसे का अनुदान तो धर्म

का काम समझ कर दे देते हैं पर यह नहीं देखते कि उनके पैसों का क्या और कैसा उपयोग हो रहा है बच्चों को कैसे संस्कार मिलने चाहिये और कैसे मिल रहे हैं ? इसकी उन्हें चिन्ता नहीं होती। इस प्रकार करोड़ों रुपयों का उनका अनुदान बिना किसी विशेष प्रयोजन की सिद्धि के चला जा रहा है। यह अलग बात है कि रतलाम वालों ने आचार्य देव के भावों को पकड़ा कि आने वाली पीढ़ी को संस्कार कैसे दे, आचार्य देव के रतलाम चातुर्मास में ही किराये के मकान में ही 36 बच्चों से एक स्कूल प्रारम्भ कर दिया गया जिसमें बच्चों की संख्या आज 350/360 तक पहुँच गई है। पहुंचना तो और भी आगे था पर प्रत्येक संस्था की अपनी क्षमता होती है। जैसी क्षमता होती है उसी के आधार पर वह गति कर सकती है। बधुओं ! इस बात पर भी चिन्तन–मनन करने की आवश्यकता है कि जिन्हें हम संस्कारित करना चाहते हैं उनके लिये साधन और माध्यम क्या होने चाहिये। मुझे जानकारी मिली है कि एक पीरियड़ धर्म का भी रखा गया है।

आज पाउच संस्कृति, गुटके–तम्याकू–पान–पराग आदि की संस्कृति बच्चों के जीवन में घुस रही है। मैं जब रतलाम में था तब युवा संघ ने व्यसनमुक्ति का कार्य हाथ में लिया था और निर्णय लिया था कि वर्ष में एक दिन–तम्याकू निषेध दिवस के रूप में मनाया जायेगा। उस दिन तम्याकू नहीं बिकेगी चाहे रेलवे–स्टेशन हो या बाजार हो। यह बात समझ लीजिये कि काम यदि करना चाहें तो दुनिया में कामों की कमी नहीं है। व्यक्ति कम पड सकते हैं। पर बात करने से काम नहीं होगा। आज फील्ड में काम करने की आवश्यकता हे। मंच पर बैठने की आवश्यकता नहीं है। मंच पर बैठने के लिए मनुष्य का मन लालायित रहता है पर जब तक मंच का धरातल ही एक नहीं, नीचे की जमीन ही ठीक नहीं तो मंच टिकेगा कहाँ ? पहले धरातल सुदृढ़ होना चाहिये नहीं तो मंच डगमगाता रहेगा। और बैठने वाले भी शांति से बैठ नहीं पायेंगे। मंच के अनेक पाये हैं, यदि ऊँचे–नीचे हो या जमीन ऊँची–नीची हो तो शांति से बैठा नहीं जा सकता। डर लगा रहेगा कि कहीं पाया उलट न जाय। ऐसी स्थिति में पाया संभाला जायेगा या बात कही जायेगी ? इसलिए मंच के लिए जमीन बराबर होनी चाहिए नहीं तो मंच पर बैठकर भी आनंद नही आयेगा क्योंकि हर समय संशयशील बने रहेंगे कि न जाने किस समय क्या स्थिति बन जाये। इसलिए मंच पर बैठने से पूर्व धरातल देखिये कि जमीन समतल है या नहीं।

बंधुओं, क्या कुछ कहा जाय ? धर्मसंघ व्यक्तिगत वस्तु नहीं है। आज धर्मसंघ की पहिचान कैसी होनी चाहिये और हम किस रूप में बता रहे

हैं यह आत्म–अवलोकन का विषय है। हम समझ लें कि व्यक्तियों का समूह मात्र धर्मसंघ नहीं होता। समूह तो चोरों का, डकैतों का भी होता है। उनका भी गिरोह या पार्टी होती है पर वह धर्मसंघ का रूप नहीं होती। संघ तो ज्ञान–दर्शन चारित्र से सम्पन्न पात्रों का समूह होता है। यदि ऐसा नहीं होता है तो वह समूह संघ कहलाने का अधिकारी नहीं होता है। वह व्यक्तियों का समूह हो सकता है पर उसे संघ की संज्ञा देना तीर्थंकर देवों की व्यवस्था की अवहेलना होगी। इसलिए प्रत्येक सदस्य को सोचना होगा कि वह जिस संघ में रह रहा है, उसमें ज्ञान–दर्शन–चारित्र का उत्थान हो रहा है या वह कमजोर हो रहा है। हमारे भीतर समभाव है या नहीं। कहीं हम छोटी–छोटी बातों में धर्म की दुहाई तो नहीं देने लग जाते हैं ? यदि ऐसा है तो हम संघ के कितने अनुरूप हैं इसका चिन्तन करने की आवश्यकता है। तभी आप सेवा कर पायेंगे, तभी रस ले पायेंगे साधु समाज के लिए आचार्य देव ने ज्ञान–दर्शन–चारित्र के विकास के लिए पुरुषार्थ किया। आप देखते हैं कि एक–एक साधु–साध्वी कैसे निर्भयता से अपनी बात कहते हैं। पहले जमीन सुदृढ़ होती है तो ही निर्भयता आती है, नहीं तो खुले दिल से बात कही नहीं जा सकती है।

श्रावक समाज के लिए भी कहा जा सकता है कि आचार्य देव ने खून–पसीना बहाया है। आज उसके सदस्यों में जो लगन आप देख रहे हैं, और संघ के प्रति श्रद्धा–निष्ठा का अनुभव कर रहे हैं, वह उन्हीं की देन है। आज एक आवाज पर लाखों आवाजें एक होने को तैयार हैं। आचार्य देव प्रसिद्धि से सदा दूर रहे थे। कभी यह नहीं देखा था कि अखबार में मेरा नाम आ रहा है या नहीं ? आज तो संतों को भी चाह रहती है कि नाम मीडिया में छाया रहे। जो कुछ भी जप–तप करें, जो प्रेरणा दें वह अखबारों में आये। पता नहीं ऐसी भावना क्यों बन जाती है ? क्या होगा अखबारों में नाम आने से ? क्या उससे मुक्ति मिल जाएगी ? यदि कोई सोचे कि उससे मूल्यांकन होता है तो यह गलत हैं। ये कागज (अखबार) ज्यादा दिन टिकने नहीं हैं। अखबार की कीमत ही कितनी होती है ? ढाई रुपये। और अखबार के पेज कितने होते हैं ? 14 या 16, 10 पेज भी हों पर आपका नाम कितने सेन्टीमीटर में आता है ? अब ढ़ाई रुपये अखबार की कीमत मान लें तो उतने स्थान की कीमत जितने में आपका नाम है, कितनी होगी ? एक पैसा भी नहीं। उस नाम के लिए यंह सब क्यों करते हैं ? और वह एक पैसे का नाम भी एक दिन रहेगा, दूसरे दिन उस अखबार की कीमत ढ़ाई रुपये के बदले कितनी रह जायेगी। रद्दी की कीमत ! केवल कुछ पैसे। और आपके

नाम से स्थान की कीमत कुछ भी नहीं कोई पूछेगा ही नहीं ! तव अखवार मे नाम पढ़कर क्या अपने भीतर खुशी होगी ? हमें ऐसा नहीं सोचना है।

हमें संघ की सेवा करनी है। संघ स्वस्थ है तो हम भी प्रसन्न व स्वस्थ रहेंगे। संघ रुग्ण हो गया तो हम स्वस्थ होते हुए भी वीमार हो जायेंगे। संघ को यदि स्वस्थ रखा तो प्रत्येक सदस्य स्वस्थ वायु में साँस लेगा। यदि संघ स्वस्थ नहीं रहा तो आपको वीमारी होगी, आप संक्रामक रोगों से ग्रसित हो जाएंगे। आप उसके भीतर स्वस्थ प्राणवायु प्राप्त नहीं कर पाएँगे। स्वास्थ्य को परम सुख कहा गया है। इसलिये जैसा आप चाहते हैं वैसा ही चिंतन–मनन आपको करना चाहिये, वैसी ही लगन लगनी चाहिये जिससे संघ के भीतर जो भी आये उसे शुद्ध ऑक्सीजन मिले। यह नहीं कि वहां भी गट्टर की दुर्गंध मिले। लोग सवेरे भ्रमण हेतु रामनिवास वाग में जाते हैं। यदि वहाँ वगीचे में भी गटर के नाले चलें तो वहाँ कौन जायेगा ? उसे कोई भी पसन्द नहीं करेगा। लोग सोचेंगे इतनी दुर्गन्ध है, तो वहाँ जाने का मन नहीं होगा। यह समझ लें कि संघ कोई मामूली चीज नहीं है। नन्दी सूत्र में संघ को कैसी–कैसी उपमाएँ दी गई हैं। उनकी ओर ध्यान दें। स्थानांग सूत्र में कहा गया कि–जो आत्मा चतुर्विध संघ की सेवा करता है, अग्लान भाव से सेवा करता है, अखवारों में नाम के लिए नहीं, मंच के लिए नहीं तो वह आत्मा सुलभ–वोधि होती है। सुलभ–वोधि का तात्पर्य वर्तमान में वोधि–प्राप्त है, आने वाले जन्म में वोधि–सुलभ होगी। थोड़ा–सा प्रसंग मिलेगा उससे जिसमें ज्ञान–दर्शन–चारित्र की भावना उपस्थित हो जाये वह सुलभ–वोधि और जो संघ की सेवा नहीं करे, संघ का अवर्णवाद करे तो स्थानांग सूत्र कहता है कि उसे वोधि दुर्लभ होती है। आने वाले समय मे उसे ज्ञान–दर्शन–चारित्र की प्राप्ति होगी नहीं, यदि हो भी जाये तो कठिनाई से। वार–वार कोशिश करे, तव भाव जग पाएंगे इसलिए शास्त्र की वाणी को भूलें नहीं। वार–वार स्वाध्याय करें। एक सोने की अंगूठी है, उसमें नगीना लगा नहीं है, लगाना वाकी है। नगीना लगाने का स्थान गड्ढे के रूप मे खाली पड़ा है। वे नकुचे भी निकले हुए है जो नगीने की पकड करने वाले है। तो वह अंगूठी स्वर्ण की होते हुए भी विना नगीने के सुंदर नही लगती। और दूसरी अंगूठी पीतल की है और उसमे सवा लाख का नगीना जड दिया जाय तो पीतल की होने के कारण उस हीरे का कीमत नही होगी। लोग कहेगे पीतल की है। हीरा थोडी होगा। असली हीरा होता तो पीतल मे कौन जडता ? समझ लीजिये आप अंगूठी है, तो आप स्वयं को कैसे सजायेंगे ?

आप कोई प्रवृत्ति करें तो वह अपने तक सीमित नहीं रहती। उसका संबंध भगवान् महावीर से जुड़ता है क्योंकि यह निर्ग्रन्थ श्रमण संस्कृति तीर्थंकर देवों की है। इसमें रहते हुए कोई भी कार्य करेंगे तो उनसे संबंध जुड़ता है। आनंद, जब तक श्रावक नहीं बना, तब तक उसकी प्रवृत्ति भिन्न थी। श्रावक बन गया तब उसके जीवन में आमूलचूल परिवर्तन हो गया।

धर्मसंघ के प्रत्येक सदस्य का जीवन साधनामय तथा समतामय होना चाहिये। उसके मन में यह विचार ही नहीं उठना चाहिए कि समाज हमारा मूल्यांकन करें या न करे। स्वयं की नजरों में हमारा मूल्य है या नहीं। यह देखें। स्वयं की नजरों में यदि हमारी कीमत है तो दुनिया कीमत करे, या नहीं करे कोई फर्क नहीं पड़ता। स्वयं की नजरों में यदि कीमत नहीं है तो फिर दुनिया कितना भी मूल्यांकन करे, उसकी कोई मूल्यवत्ता नहीं है। स्वयं की नजरों में अपनी पहचान करिये। अपनी नजरों में अपनी पहचान है तो भूल जाइये कि दुनिया में आपकी पहचान है या नहीं। दुनिया तो भेड़चाल चलती है। उस ओर ध्यान देने से कोई मतलब नहीं। पर अपने भीतर अवश्य देखें। वहाँ यदि दुनिया से मूल्यांकन के भाव हैं तो वह भी शल्य रूप है उसे दूर करें।

भगवान् कहते हैं कि आलोचना से तीन शल्य समाप्त हो जायेंगे, जिस मन में से अनंत संसार बढ़ाने वाले शल्य निकल जाते हैं। उस मन में सरलता का संचार हो जाता है। उसकी चित्तवृत्ति में काँटे या सलवटें नहीं रहती। धोबी कपड़ा धोता है। वह वैसे ही लाकर वापस दे दे तो क्या पसन्द आ जायेंगे ? ऊपर क्रीज न की हो भले अच्छा से अच्छा धो दे तो भी आप कहेंगे ! क्या किया, सल ही सल पड़े हैं, आपकी प्रज्ञा कितनी तेज है। कपड़े पर सल पसन्द नहीं करते पर मन पर पड़े सल कितने पसन्द हैं ? उन्हें कितना जमाये रखते हैं। एक सल पर दूसरा सल कभी प्रेस करने की बात भी नहीं सोची ? भगवान् महावीर कहते हैं—शल्य दूर किया तो फिर मनोभूमिका सरल—स्वस्थ हो जाएंगी। फिर उस भूमिका में जो धर्म के बीज और सेवा के संस्कार डाले जाएंगे तो जो चाहो वह फसल पैदा हो जायेगी और निर्माण हो जायेगा। हम चिन्तन—मनन करें। अपने—अपने कर्तव्य का, दायित्व का बोध प्राप्त करते हुए, उसे सन्मुख रखते हुए विचार करें कि उसका निर्वाह कैसे करें। इन भावों से बढ़ेंगे तो स्वयं का कल्याण कर समीप आने वाले का, और संघ में हैं तो संघ का कल्याण करेंगे संघ के निमित्त से स्वयं का और स्वयं के निमित्त से संघ का कल्याण होता है

क्योंकि व्यक्ति व्यक्ति भी होता है और समष्टि भी होता है। जब तक अकेला है तव तक वह इकाई है पर जब जुड़ता है तब उसका जीवन समष्टिगत वन जाता है। तव उसे समष्टि भाव से सोचना है, वहाँ व्यक्तिगत भाव तिरोहित कर, संघ–भावना को सर्वोपरि लेना चाहिये। इन विचारों से चलेंगे तो जीवन धन्य वनेगा।

आचार्य देव की जो प्रेरणाएं हैं, उन्हें स्वस्थ तरीके से समझें। आचार्य देव ने जो सूत्र दिये हैं उन्हें कइयों ने बीज रूप में ही रखा, पर पनपाया नहीं, फलित नहीं किया। पर अब समय आ गया है जब हम आचार्य देव के समता–दर्शन एवं समीक्षण ध्यान के चिन्तन को प्रयोग में लें। उसे आगे वढ़ाने का प्रयत्न करेंगे तो उन्होंने जो उपकार किया है उस उपकार के प्रति उपकृत भाव से कुछ कर पाएंगे। उपकारी के प्रति अपकार का भाव न वनें यह ध्यान रहे उपकार से उऋण तो नहीं हो सकते है अतः स्वार्थ का त्याग कर स्वस्थ परम्परा के निर्वाहक बनने का प्रयत्न करें। इस परम्परा का हम निर्वाह करेंगे तो आनेवाली पीढ़ियाँ भी इसका निर्वाह करेंगी। स्वस्थ परम्पराओं का निर्वाह किया जाना आवश्यक है क्योंकि ऐसा करना भी तप की श्रेणी में आता है और आप जानते हैं कि तप से आत्मा निर्मल और पवित्र वनती है, कर्म से उत्पन्न मलिनता और विकार नष्ट होते है और नवीन शक्ति की उपलब्धि होती है। परिणामस्वरूप जो बैटरी डाउन हो गई हो, वह रिचार्ज हो जाती है।

जो कुछ मैंने कहा है उसे व्यापक संदर्भ में समझें क्योंकि इस प्रकार स्वस्थ परंपराओं का पालन तप का ही एक प्रकार है। वैयावृत्य तप के जो दस प्रकार वताये गये हैं उनमें आचार्य वैयावृत्य, संघ वैयावृत्य और साधार्मिक वैयावृत्य भी शामिल हैं। भगवान महावीर की जो परंपरा आचार्यों तक आई हैं उसके तार साधार्मिकों से धर्मसंघ के माध्यम से ही जुड़ते है। साधार्मिकों के प्रति समता भाव और संघ के प्रति समर्पण भाव वह बैटरी है जो ऊर्जा या शक्ति प्रदान करती है। तप के कारण ही धर्म की वाणी प्रभावी वनकर, कानों के माध्यम से मस्तिष्क तक पहुँच कर धर्म के मार्ग पर आगे वढ़ने की प्रेरणा देने वाली वनती है। बैटरी, वायर और माइक के सही होने की वात मैने प्रारंभ में कही थी। आप समझ गये होंगे कि मोक्षमार्ग पर उत्साहपूर्वक लगातार वढ़ते रहने के लिए व्यक्ति के साथ समष्टि अर्थात् साधार्मिक, संत–सती वर्ग, आचार्य तथा शास्त्र की वात इससे कैसे जुड़ती है। आप अपनी चेतना की बैटरी को डाउन न होने दें तो निश्चित रूप से धर्म की वात प्रभावी रूप से आपके मस्तिष्क में, विचारों में

और हृदय में प्रवेश कर सकेगी। वह प्रभावी होगी तो तय है कि आप प्रेरित होंगे और धर्म के मार्ग पर दृढ़ता से अग्रसर रह पायेंगे। आप की गति बनी रहे, यह प्राथमिक आवश्यकता है। यह प्रेरणा आप धर्म सभाओं में लें और समताभाव सुरक्षित रखते हुए धर्म–संघ के हित साधन में लगें रहें, तो निश्चित रूप से आपका कल्याण होगा। यह कल्याण आत्मा के कल्याण का मार्ग भी प्रशस्त करेगा जो हम सभी का लक्ष्य है। व्यक्ति का महत्त्व अपनी जगह पर है परन्तु समाज का महत्त्व सर्वोपरि हैं क्योंकि समाज ही साधन और शक्ति बनता है। इसीलिये भगवान ने चतुर्विध संघ की स्थापना की थी। पर आप उस उद्देश्य की पूर्ति में सहायक बनें।

☆☆☆

20.8.2000

जीवन के विकास का सूत्र

श्री सुपार्श्व जिन वंदिए..............।

अधिकांश व्यक्तियों के मन में कामना रहती है कि उनका जीवन विकसित हो जाये। हर क्षेत्र में वे विकास करते चले जायें। चाहे आर्थिक स्थिति हो, भौतिक सम्पदा हो या सामाजिक क्षेत्र हो, सभी में उनका विकास हो जाये। विकास की लगन और चाह अच्छी बात हो सकती है पर विकसित होने का फार्मूला क्या है ? ऐसा कौन–सा फार्मूला है, कौन–सा सूत्र है जिसका उपयोग करने पर व्यक्ति का विकास हो सकता है ?

बात गंभीरता से समझने की है। विकास किसका होना है ? यह समझने की बात है। वस्तुतः शरीर का विकास विशेष महत्त्व नहीं रखता। न भौतिक वैभव का विकास ही कोई महत्त्व रखता है। जीवन का कौन–सा विकास महत्त्वपूर्ण है इसे बादशाह नासिरउदीन के उदाहरण से समझें ? बादशाह अपने स्वयं के उपयोग के लिए राजकोष में से एक पैसा भी नहीं लेता था ? टोपियां सिलाता था और उनके विक्रय से जो राशि मिलती उससे अपनी आजीविका का निर्वाह कर लेता था। इस हेतु वह धर्मग्रन्थों की नकल भी करता था। इस प्रकार का उसका सादा जीवन था। एक बार बाहर का एक व्यक्ति उसके पास बैठा था तभी एक तीसरा व्यक्ति और आ गया वह नासिरउदीन का लिखा ग्रंथ लेकर पढ़ने लगा। पढ़ते–पढ़ते उसने नासिरउदीन को इशारा करके बताया कि यहाँ पर कुछ अशुद्ध है। नासिरउदीन ने उस स्थान पर चिह्न लगाकर कागज रख दिया। थोड़ी देर बाद जब वह भाई चला गया तब नासिरउदीन ने लगाया हुआ चिह्न मिटाकर कागज हटा दिया। यह देख कर पास में बैठे व्यक्ति को [illegible] हुआ और वह विचार में पड़ गया कि [illegible]

और हृदय में प्रवेश कर सकेगी। वह प्रभावी होगी तो तय है कि आप प्रेरित होंगे और धर्म के मार्ग पर दृढ़ता से अग्रसर रह पायेंगे। आप की गति बनी रहे, यह प्राथमिक आवश्यकता है। यह प्रेरणा आप धर्म सभाओं में लें और समताभाव सुरक्षित रखते हुए धर्म–संघ के हित साधन में लगें रहें, तो निश्चित रूप से आपका कल्याण होगा। यह कल्याण आत्मा के कल्याण का मार्ग भी प्रशस्त करेगा जो हम सभी का लक्ष्य है। व्यक्ति का महत्त्व अपनी जगह पर है परन्तु समाज का महत्त्व सर्वोपरि हैं क्योंकि समाज ही साधन और शक्ति बनता है। इसीलिये भगवान ने चतुर्विध संघ की स्थापना की थी। पर आप उस उद्देश्य की पूर्ति में सहायक बनें।

☆☆☆

20.8.2000

जीवन के विकास का सूत्र

श्री सुपार्श्व जिन वंदिए................।

अधिकांश व्यक्तियों के मन में कामना रहती है कि उनका जीवन विकसित हो जाये। हर क्षेत्र में वे विकास करते चले जायें। चाहे आर्थिक स्थिति हो, भौतिक सम्पदा हो या सामाजिक क्षेत्र हो, सभी में उनका विकास हो जाये। विकास की लगन और चाह अच्छी बात हो सकती है पर विकसित होने का फार्मूला क्या है ? ऐसा कौन–सा फार्मूला है, कौन–सा सूत्र है जिसका उपयोग करने पर व्यक्ति का विकास हो सकता है ?

बात गंभीरता से समझने की है। विकास किसका होना है ? यह समझने की बात है। वस्तुतः शरीर का विकास विशेष महत्त्व नहीं रखता। न भौतिक वैभव का विकास ही कोई महत्त्व रखता है। जीवन का कौन–सा विकास महत्त्वपूर्ण है इसे बादशाह नासिरउद्दीन के उदाहरण से समझें ? बादशाह अपने स्वयं के उपयोग के लिए राजकोष में से एक पैसा भी नहीं लेता था ? टोपियां सिलाता था और उनके विक्रय से जो राशि मिलती उससे अपनी आजीविका का निर्वाह कर लेता था। इस हेतु वह धर्मग्रन्थों की नकल भी करता था। इस प्रकार का उसका सादा जीवन था। एक बार बाहर का एक व्यक्ति उसके पास बैठा था तभी एक तीसरा व्यक्ति और आ गया वह नासिरउद्दीन का लिखा ग्रन्थ लेकर पढ़ने लगा। पढ़ते–पढ़ते उसने नासिरउद्दीन को इशारा करके बताया कि यहाँ पर कुछ अशुद्ध है। नासिरउद्दीन ने उस स्थान पर चिह्न लगाकर कागज रख दिया। थोड़ी देर बाद जब वह भाई चला गया तब नासिरउद्दीन ने लगाया हुआ चिह्न मिटाकर कागज हटा दिया। यह देख कर पास में बैठे व्यक्ति को आश्चर्य हुआ और वह विचार में पड़ गया कि यह क्या बात है कि उस व्यक्ति ने

पढ़कर कहा अशुद्ध है तो निशान लगा दिया, और जब वह चला गया तो नासिरुउदीन ने निशान को मिटा दिया। उसने पूछ लिया–हुजुर बात क्या है ? क्यों आपने निशान लगाया और क्यों वापस हटा दिया ? बादशाह ने कहा–भाई, उसने अशुद्ध कहाँ तो मैंने निशान लगा दिया पर मैंने जो लिखा था वह नहीं था इसलिए बाद में निशान हटा लिया। उस व्यक्ति ने कहा–उसके कहने से निशान लगाये ही क्यों ? आप उसी से कह सकते थे कि मैंने जो लिखा है वह शुद्ध है, अशुद्ध नहीं है। नासिरुउदीन ने बात समझाई–जो व्यक्ति अपने आप को पारंगत मानता हो बहुत–कुछ मानता हो ऐसे व्यक्ति से विवाद करने में फायदा नहीं है। उसके सामने कुछ कहना 'भैंस के सामने बीन बजाना है' व्यर्थ समय गंवाना है। इसलिए मैंने उससे उलझना, और समय बरबाद करना उचित नहीं समझा ! उसने कहा तो निशान लगा दिया वह राजी हो गया। वह गया तो मिटा दिया निशान और मेरा लिखा सुरक्षित रह गया। यदि समय बरबाद करता तो संभव है एक घंटा निकल जाता। न मैं उसके कहे को स्वीकार करता, न वह मेरी कही मानता। इस प्रकार एक घंटे के समय की बरबादी ही होती, उपलब्धि कुछ नहीं होती। आप समझ गये होंगे बात बहुत छोटी है, पर प्रेरणा देने वाली है।

पू. गुरुदेव हम संतों को शिक्षा देने के प्रसंग से कई बार समझाया करते थे– 'अपनों से कभी विवाद नहीं करना।'

यह एक छोटा–सा वाक्य है, एक सूत्र है आचार्य देव का। इसे गले उतार लें तो परिवार में कभी क्लेश और समाज में कभी झगड़ा नहीं हो सकता इस प्रकार तनाव की स्थितियों से बचा जा सकता है। हो सकता है की समझ के फेर के कारण एक कुछ समक्ष रहा है, और दूसरा भाव कुछ और ही समझ रहा है। जरूरी नहीं कि व्यक्ति जो कह रहा है, जिस आशय से कह रहा है, सारे के सारे उसी आशय को समझ लें और बात को स्वीकार कर लें। कहने वाला अपने आशय से कहता है पर सुनने वाले अपने–अपने आशय से ग्रहण करते है।

आप यह जानते ही होंगे कि स्वाति नक्षत्र में बरसा पानी यदि सीप के मुँह में जाय तो मोती, कदली में जाये तो कपूर और बाँस में जाये तो वंशलोचन बन जाता है। पर वही पानी की बूंद सर्प के मुँह में जाये तो विष वन जाती है। पानी की बूंद समान है और स्वाति नक्षत्र में वरसा हुआ पानी ,पानी है पर कहते हैं स्वाति नक्षत्र में वरसा पानी, पानी नहीं होता। हालाँकि वो पानी ही वरसता है, पर कहते हैं–मोती बरसता है। पर वही पानी जव

चार अलग–अलग पात्रों द्वारा ग्रहण किया जाता है तो भिन्न अवस्थाएँ बन जाती हैं। वैसे ही कथन करने वाला अपनी दृष्टि से कहता है, ग्रहण करने वाले अपने तरीके से ग्रहण करते हैं। इसलिए ग्रहण करने वाले किसी भी दृष्टि से ग्रहण करें किन्तु वक्ता को अपने भाव शुद्ध रखने चाहिए। श्रोता यदि ग्रहण करके तनाव जैसी स्थिति में आ जायें तो ज्ञानी कहते हैं कि तनाव की बातों को उसी समय छोड़ देना चाहिये। तनाव को ढीला छोड़ देना चाहिये। बात के बिगड़ने के आसार बनते हों तो उसे चिन्तन का अवकाश दे देना चाहिए और सोचना चाहिए कि जो अभी तूफान हैं, आगे वैसा ही रहे यह जरूरी नहीं। थोड़े समय बाद तूफान थम सकता है। वह ठीक स्थिति में आ सकता है। इसलिए एक छोटा–सा सूत्र दिया गया है– 'अपनों से कभी विवाद नहीं करना।' यदि इसे उपयोग में लाया जाता है तो जीवन का व्यवहार शांति से सम्पन्न हो सकता है।

व्यक्ति बाहर की संपत्ति की आकांक्षा रख कर चलता है कि मेरे पास विपुल संपत्ति हो जाये। विपुल संपत्ति हो जाये पर जीने की शैली नहीं जानता हो, परिवार समाज में कैसे रहना चाहिये इसका अनुभव नहीं हो तो भले ही संपत्ति का अंबार लग जाये पर उसे शांति प्राप्त नहीं हो सकती। ऐसा व्यक्ति संपत्ति होते हुए भी सुखी जीवन जी नहीं सकता ! सुखी जीवन जीने के लिए विचारों की संपत्ति अति आवश्यक है। जीवन जीने की जो संपत्ति आवश्यक है वह सम्पत्ति है, तो बाहर की संपत्ति न भी रहे तो भी व्यक्ति को तनाव, क्लेश, दुख का सामना नहीं करना पड़ेगा, बल्कि वह हर क्षण शांति का अनुभव करेगा।

बंधुओं ! हकीकत में जो संपत्ति है, उसे प्राप्त करने का लक्ष्य होना चाहिये। पैसों की सम्पत्ति कभी विपत्ति को बुलावा भी दे सकती है, पर विचारों की संपत्ति विपत्ति में कभी नहीं डालेगी। बल्कि विपत्ति के क्षण आ भी जायें तो भी विचारों की सम्पत्ति रखने वाला अशांति की स्थिति में कभी नहीं पड़ेगा और जीवन की वैतरणी नदी पार कर लेंगे अन्यथा जीवन मिल भी जाय, वैभव भी मिल जाय, शरीर का विकास भी हो जाय, तो भी न शांति मिलेगी, न संतोष और न ही जीवन का सुख। यह वैचारिक सम्पदा लोहावट में देखने को मिली थी। जो व्यक्ति वहाँ पहुंचे उन्होंने वहां अनुभव किया कि

'जात पात पूछे नहीं कोई, हरि को भजेसो हरि का होई।'

बाहर के दर्शनार्थी घर के रहन–सहन से यह जान लें कि कौन ब्राह्मण है, कौन माहेश्वरी है तो बात अलग है, पर उन्होंने ग्रामवासियों ने यह एहसास नहीं होने दिया कि वे किसी जैनी के या माहेश्वरी के या शर्मा

के घर में हैं। सभी ने वही वात्सल्य दिया जो स्वधर्मी को दिया जाता है। वहाँ का वातावरण अपने–आप में एकात्मता का एहसास कराने वाला था। स्वधर्मी भाव दर्शनार्थियों ने लोहावट में देखा, उस प्रकार का विचार वैभव प्रत्येक गाँव में प्राप्त हो तो कहना ही क्या ? प्रत्येक व्यक्ति ऐसे विचार वैभव से अपने जीवन को ओतप्रोत कर ले तो शायद सरकार की भी बहुत–सारी समस्याएं समाप्त हो जायें और प्रत्येक गाँव और शहर में अमन–चैन का वातावरण बन जाये। कल मैंने कहा था कि जहाँ मंच की भूमि बराबर नहीं हो तो वहाँ आराम से बैठ नहीं पाएंगे। वही भूमि अर्थात् जहाँ हाथ–पैर जमीन से लगे हों अर्थात् हमारा जनता–जनार्दन से सम्पर्क हो वहीं धर्म प्रभावना की दृष्टि से हमारे लिये भी उपयुक्त होगी। हम देखते हैं कि जो नेता जनता–जनार्दन से कटकर चलते हैं वे सफल नहीं होते। अगर यहाँ भी वही बात हुई। उसका हश्र क्या हो सकता है, यह भी चिंतन कर लेना चाहिए। जहाँ संतों के दर्शन की बात है तो प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य है कि सभी संतों–सतियों के दर्शन का लाभ लें। यहाँ नहीं कि बड़े के दर्शन करके चले गये और छोटों की उपेक्षा कर दी। आप ही जब कभी चातुर्मास लेने के लिए आयेंगे तो एक ही साधु या बड़े–बड़े संत–सती ही तो हर जगह नहीं पहुँच पायेंगे। कहीं संत, कहीं सतियाँ पहुँचती हैं। यदि हमारे मन में भेद की अवस्था रही तो जो पुण्य लाभ संतों से प्राप्त कर सकते हैं, उससे वंचित रह जाएंगे। यह हम समझें। शांत–क्रान्ति के अग्रदूत पूज्य गणेशाचार्य फरमाते थे कि राजहंस को बुलाना है तो साधारण पक्षी को भी चुग्गा डालना होगा। साधारण पक्षी आएंगे तो कभी राजहंस भी पहुँच सकता है। आप सोचें, साधारण को हम न चुगायें, राजहंस को ही चुगायेंगे, तो इंतजार करते ही रह जाओगे और कभी यह स्थिति बन जाएगी कि राजहंस को चुगाने की तैयारी करके भी राजहंस को चुगा नहीं पाओगे।

आप भगवती सूत्र को उठाकर देखिये। भगवती सूत्र में शतक कितने हैं ? किससे पूछें ? आप व्याख्यान सुनना चाहते हैं, पर शतक कितने पूछें तो यह आप नहीं बता पायेंगे। जो गाड़ी में बैठने वाले हैं उनसे पूछें कि गाड़ी में कितने पहिये हैं तो वे यही कहेंगे यह तो हम नहीं गिनते। हमारे साथ तो गाड़ी में जल्दी बैठो और चलो। वैसे ही व्याख्यान सुनने वाले अधिकांश श्रोता सुनने के इच्छुक होते है, पर शास्त्र कितने हैं, या किसके शतक या अध्ययन हैं इसको उनको क्या लेना देना ?

भगवती सूत्र में तुंगियानगरी के श्रावकों का यह वर्णन आता है कि उनके द्वार दान के लिए खुले रहते थे। यह नहीं कि जैन साधु आये तो ही

खोलें। वे सोचते थे द्वार खुले रहे तो पहले भी कई व्यक्ति आ सकते है ! श्रावक का घर खुला रहता है तो वह कभी अनुकंपा दान देता है तो कभी सुपात्र दान का भी योग मिल सकता है। यदि पहले से ही द्वार बंद सोचे कि कहीं भिखारी आ गया तो देना पड़ेगा, तो उसे सुपात्रदान का लाभ मिल जाये, कोई जरूरी नहीं। इसलिए साधु–संतो को, सतियों को बुलाएंगे तो हो सकता है–प्रर्वतक, गणि, गणावच्छेदक, अरिहंत तक का भी लाभ मिल जाये, नहीं तो साधु–साध्वी के लाभ से भी वंचित रह जाएगें।

कई स्थानों पर संत–सती वर्ग की, स्वधर्मियों की, सेवा–भक्ति तो बड़े उल्लास से होती है पर वैरागी त्रिशंकु बन जाते है। न आपके बीच के रहे, न हमारे बीच आ पाये। जैसे त्रिशंकु आकाश में अधर रह जाता है वैसे ही वे रह जाते हैं। एक तरफ तो आप चाहते हैं कि साधु–साध्वी बढ़ें ज्यादा क्षेत्रों को लाभ मिले, पर कभी किसी ने वैरागियों को संभालने की कोशिश की कि वे कितने हैं ? उनका अध्ययन आदि कैसा चल रहा है ? उनके तप –संयम की रूचि को वैराग्य भावनाओं को बढ़ाने में हम क्या सहयोग कर सकते हैं श्रावक अपने कर्त्तव्य का स्वयं निर्वाह करे। पर अपने दायित्व के प्रति हमारी सजगता कितनी है इस पर चिन्तन किया क्या ? आपने सुनी कभी कर्मठ सेवाभावीजी उनके जीवन की घटना से कर्म सेवाभावी घायमातृ पदालंकृत श्री इन्द्रचन्दजी म.सा. फरमाया करते थे कि वे वैरागी अवस्था में विहार करते एक गाँव में पहुँचे। मैं गाँव का नाम नहीं लेना चाहता पर वहाँ करोड़पतियों की हवेलियाँ तो बहुत हैं, गरीबों की झोपड़ियाँ कम होंगी। गाँव में पहुँचे, भूख लगी हुई थी, कोई पूछने वाला नहीं। तीन बज गये पर किसी ने पूछा तक नहीं तीन बजे वे गुरूदेव के पास पहुंचे कहा–मुझे उपवास पचरवा दिजिये। शान्तक्रांति के अग्रदूत पू. गणेशाचार्य ने पूछा–क्यों भाई ? उन्होंने कहा–मुझे घरों की जानकारी नहीं और किसी ने भोजन के लिए कहा नहीं इसलिए उपवास कर लेता हूँ। वहाँ खड़ी सेठानी अपनी धर्मप्रवणता बताने के लिए बोली कि वैरागीजी, उपवास मत पचको। घर पधारो। वे सेठानी के साथ उसके घर गये। सेठानी ने घर ले जाने के बाद सुबह की बाजरे की आधी रोटी रख दी। उन्होंने खा ली। सेठानी ने वापस सार–संभाल नहीं की पेट भरा या कि कुछ और चाहिये। आखिर कब तक बैठे रहते। वे उठकर स्थानक आ गये। ऐसा हाल यदि समाज का रहे तो ऐसे समय में वैरागी के सामने विकट परिस्थिति खड़ी हो जाती है। यदि वह बाजार जाता है तो ऐसा भी कहने वाले कह देंगे–वैरागी बना है। बाजारों में घूमता फिरता है। क्या करे बेचारा वैरागी। वैराग्य आया है पर पेट तो

वैराग्य से नहीं भरेगा। पेट आहार से ही भरना पड़ता है। यह तो है नहीं कि वैरागी बनने के बाद भूख लगती नहीं। कभी–कभी वैरागी को यह भी सुनना पड़ जाता है–वैरागी वने हो, इतनी भी सहनशीलता नहीं वैरागी को तो सहनशील होना चाहिए उसे भूख प्यास सहन करनी चाहिए। ऐसा उपदेश देने लग जाएंगे। बंधुओं ! उपदेश से पेट नहीं भरेगा। वह तो रोटियों से ही भरेगा। मेरे साथ भी एक घटना घटी थी। हालांकि मैंने उसे कभी उस रूप में लिया नहीं। मुझसे कहा गया–आपकी दीक्षा होनी चाहिये। मैने कहा–करवाइये। रिलेशन वालों से पूछ लेते हैं। श्रावक समाज रिलेशन वालों के पास लेकर चला गया। उस समय वहाँ इन्द्र भगवान् विराज रहे थे। यह मत समझना वे बीकानेर में थे। इन्द्र भगवान् उस समय बीकानेर में नहीं थे। वहाँ ले गये। वहीं पर मेरे परिजनों को भी बुलाया बातचीत हुई। बाद में मेरे एक परिजन ने अलग बुलाकर पूछा–तुम बहुत थक गये हो, दूध लेते हो कि नहीं ? मैंने कहा संघ में दूध की व्यवस्था नहीं है। हम बाजार से लायें तो लोग कहेंगे कि वैरागी है और बाजार में घूमते–फिरते हैं। पहले समाज के चौके में दूध–नाश्ते की व्यवस्था नहीं रहती थी। उन्होंने फिर समाज के उन लोगों से कहा जो दीक्षा की बात करने आये थे कि आप वैरागी की दीक्षा तो करवाना चाहते हो पर क्या उसके खाने–पीने और अध्ययन पर भी ध्यान देते हो ? उन्हें दूध भी प्राप्त होता है या नहीं यह भी देखते है, ? उसके बाद उन्होंने उस ओर ध्यान दिया। आप कह सकते हैं –महाराज संघ का चौका चल रहा है पर आप चिंतन करे कि यदि साधना में निरन्तर रहने वाला व्यक्ति प्रतिदिन संघ के चौके में आहार करे तो क्या उसका स्वास्थ्य अनुकूल रह सकता है ? वह आहार क्या साधना में सहयोगी बन सकता है ? इस पर आप लोगों को ही चिन्तन मनन करना है आपकी साधु जीवन के लिए बड़ी इच्छा रहती है तो साधु–जीवन स्वीकार करने वालों के प्रति कैसी भावना रहनी चाहिये, इसे भी आप समझें। आप अंतगढ दशा सूत्र सुनते हैं। कृष्ण वासुदेव ने दीक्षा की दलाली किस प्रकार की :

करी धर्म दलाली, गोत्र तीर्थंकर बांध्यो मुरार जी............

धर्म दलाली करके तीर्थंकर गोत्र बन्ध कर लिया। आप कर्तव्य में पीछें हैं ऐसा नहीं समझें और जो मैं बोल गया हूं उसे उपालंभ नहीं समझें। आप धर्म–कर्तव्य के प्रति जागरूक हैं, पर विशेष जागरूक होने की आवश्यकता है ताकि हम धार्मिक क्षेत्र में यथोचित विकास कर सकें, हमारी धर्म–चेतना विकसित हो सके और हम पूर्णता की ओर अग्रसर हो सकें।

☆☆☆

21.8.2000

माखनचोरी का रहस्य

कहा जाता है कि सिंहनी के दूध को रखने के लिए स्वर्ण पात्र की आवश्यकता होती है। इसी प्रकार यदि खटाई–दही छाछ यदि को व्यवस्थित रखना है तो ताँबा–कांसा या पीतल के पात्रों में उन्हें नहीं रखा जा सकता। उनमें यदि कलई कर दी गई हो तो कलई करने के पश्चात् दूध–दही–खटाई आदि उनमें टिक सकती है अन्यथा नहीं। वैसे ही धर्म को टिकाने के लिए उपयुक्त पात्र की आवश्यकता होती है। उन्त्तराध्ययन सूत्र में कहा गया है–

"धम्मो सुद्धस्स चिट्ठई।"

जो पात्र शुद्ध होता हैं, धर्म उसमें ही टिकता है। और शुद्ध पात्र किसे कहा जाता है ? जो पात्र ऋजु, सरल होता है, वह शुद्ध होता है। ह्रदय यदि सरल नहीं है, जीवन–व्यवहार यदि सरल नहीं है, तो वहाँ धर्म का टिकाव भी संभव नहीं है। यदि माया है, छल है, प्रपंच है, कपट है और माया के ताने–बाने या जाल बुने हुए हैं, तो धर्म वहाँ टिक नहीं पाएगा। वहाँ धर्म को प्रवेश भले करा लें पर धर्म वहाँ टिकेगा नहीं। इसलिए प्रभु महावीर का फरमाना है कि यदि छल–प्रपंच के ताने–बाने हैं तो पहले उनकी सफाई कर लेनी चाहिये। यदि पहले उनकी सफाई कर दी गई फिर धर्म को वहाँ रखा गया तो धर्म वहाँ टिकेगा और उस धर्म से व्यक्ति लाभान्वित भी हो पायेगा। बिना साफ–सुथरे किये पात्र में यदि धर्म को रख दिया गया तो उससे आत्मा का हित नहीं हो पाएगा।

आप कहेंगे धर्म तो धर्म है, उससे हित क्यों नहीं होगा ? धर्म से हित होना चाहिये किन्तु ज्ञानी जनों ने यह भी कहा है कि जब तक [illegible] की शुद्धि न कर लें तब तक वह धर्म तुम्हें शुद्ध नहीं [illegible] स्थान पर कचरा पड़ा है या आग की ज्वाला [illegible]

कितना ही शीतल पानी डाला जाये, वह कचरा उस शुद्ध पानी को भी गंदा कर देगा, आग की लपटें उस पानी को सुखा देंगी, वह टिक नहीं पाएगा। इसी प्रकार यदि मिथ्यात्व व राग–द्वेष की मलीनता हमारे भीतर है तो धर्म भी उसके द्वारा मलीन हो जाएगा। वह शुद्ध नहीं रह पाएगा और आत्मा के लिए हितकर भी नहीं हो पाएगा। शास्त्रकारों ने बताया कि एक व्यक्ति या एक साधक त्यागमय जीवन को अपना लेता है और इतनी कठोर क्रिया करता है, आचरण की दृष्टि से कि लोग 'दाँतों तले अंगुली दबा लें' कि कैसी कठोर क्रिया है, मास मासमखण तपस्या कर रहा है ! किन्तु वैसी कठोर क्रिया करके भी वह आत्मा सांसारिक सुख ही प्राप्त कर सकता है, पुण्य–संचय कर सकता है, देवलोक का दिव्य भोग प्राप्त कर सकता है किन्तु आत्म–कल्याण की दिशा में गतिशील नहीं हो सकता। कारण क्या है ? कारण यही है कि भीतर की अशुद्धि दूर नहीं की गई हैं, भीतर की मलिनता बनी रही है इसलिये कितना भी शुद्ध आचरण करे, कितनी भी क्रिया करे तो भी कल्याण नहीं हो पाएगा।

कल जन्माष्टमी है। वह अष्टमी जन्म के साथ जुड़ी हुई है, और इतने हजार वर्षों के बाद भी हम उसे याद रखे हुए हैं कि जन्माष्टमी है। इसका कारण है एक महापुरुष का उस दिन जन्म हुआ था। उस महापुरुष ने अपने समय में चलती गलत परम्पराओं गलत व्यवहार तथा शोषण–पीड़न चक्र को समाप्त करने के लिए तथा नवीन स्वस्थ विचारधारा को प्रादुर्भूत करने के लिए प्रयत्न किये थे। यही कारण है कि हम जन्माष्टमी या रामनवमी के कहने से जान लेते हैं कि उस दिन श्रीकृष्ण या श्रीराम का जन्म हुआ था। उनके कार्यों ने उस तिथि को यादगार बना दिया है।

छोटी–छोटी घटनाएँ हैं। जिस समय नंद–यशोदा के यहाँ पाले जा रहे थे, कृष्ण बाल–लीला में बर्तन फोड़ देते थे, मक्खन बिखेर देते थे और ग्वाल–बालों से कहते थे–आओ–आओ, खाओ। आज भी वैदिक संस्कृति में उस अवतारी पुरुष की ऐसी बाल–लीला बखानी जा रही है, पर इस पर विचार नहीं किया जा रहा है कि उसके पीछे हार्द क्या है ? क्या यह केवल बाल–लीला थी महापुरुषों के एक–एक आचरण के पीछे निश्चित रूप से कुछ महत्त्वपूर्ण आशय छिपा रहता है। कृष्ण वासुदेव की भी यह केवल बाल–लीला नहीं थी किन्तु उस बाललीला के माध्यम से उन्होंने एक पाठ पढ़ाया था। वह एक पूरा मिशन था उनका तर्क था–गायों की सुरक्षा हम करते हैं। गायों को चारा देना, उनका रख–रखाव ग्वाले करते हैं, परन्तु उन गायों का जो दूध होता है, वह सारा का सारा नगरों में सप्लाई कर

दिया जाता है। जो दूध बचता है उसका दही जमाकर, मक्खन निकाल कर, घी बनाकर विक्रय कर दिया जाता है। जो व्यक्ति गाय को घास नहीं देना चाहता, जिसके मन में गाय के प्रति करूणा नहीं हैं। यह दूध घी, मक्खन उसके यहाँ पहुँचता है, और जो गाय के प्रति कर्तव्य भाव लेकर चलते हैं, उन्हें दूध–मक्खन नहीं मिलता। ऐसा क्यों ? कभी–कभी छाछ भी नसीब नहीं होती है। इसलिए उन्होंने बचपन में हंडिया फोड़ आंदोलन चलाया और ग्वाल–बालों से कहा– लो खाओ !

आज भी क्या हो रहा है ? भारत में जो अन्न पैदा होता है और जो बढ़िया से बढ़िया क्वालिटी का अनाज होता है कहाँ चला जाता है आप जानते है क्या ? कहते हैं जैनियों को, व्यापारी कौम को, इससे क्या लेना–देना ? उन्हें तो पैसा चाहिये। कैसे भी करके उनकी दो पैसे की आमदनी हो जाये। राष्ट्र–धर्म मानव–धर्म क्या होता है, इससे उन्हें कुछ लेना देना नहीं। आज हमारे राष्ट्र के नेता मानवीय भावनाओं को कहाँ सुरक्षित रख पा रहे हैं। जो यहाँ की गाढ़ी कमाई है, किसान खून–पसीना बहाकर जो अनाज पैदा करते हैं उसमें जो पौष्टिक तत्त्वों वाला होता है वह तो विदेशों में जाता है और वहाँ का घटियाँ अनाज, जो उनके काम आने के बाद बचता है, वह भारत में आता है। यहाँ से जाने वाले अनाज की कीमत विदेशी तय करते है, और वहाँ से जो आता है उसकी भी कीमत विदेशी तय करते हैं। भारत न तो अपने अनाज की कीमत तय कर सकता है, न उनके अनाज की कीमत तय कर सकता है। दोनों तरफ से उसके हाथ बांध दिये गये हैं। पुराने समय में जागीरदार होते थे। किसान मेहनत करते थे पर जब फसल खड़ी हो जाती थी तो जागीरदार पहुँच जाते थे। खड़ी फसल गाड़ी में भरकर ले जाते थे। वही दशा भारत की आज हो रही है। अनाज को पैदा करने की जिम्मेदारी भारत की है, पर अपने द्वारा पैदा किये गये अनाज खाने का अधिकार उनका नहीं है। वे उसका उपभोग नहीं कर सकते। जैसे ही अनाज तैयार हो जाता है उसकी कीमत विदेशी कम्पनियॉ तय करने लगती हैं। चाहे वे कितनी भी कटौती कर दें, पर भारत के सामने हाथ जोड़कर खड़े रहने के अलावा दूसरा कोई रास्ता नहीं है। यह व्यवस्था क्या दर्शाती है ? यह पुराने ढर्रे की ही चाल है और कृष्ण नें अपने समय में इसे ही समाप्त किया था। मर्यादा पुरुषोत्तम राम ने भी अपने समय में ऐसी व्यवस्था को समाप्त किया था। पर कुछ समय बाद ये ढर्रे फिर प्रारंभ हो जाते हैं। इस प्रकार सहज–स्वस्थ–सम्पन्न जीवन की स्थितियाँ समाप्त होती रहती हैं।

आज हम पर विदेशी कम्पनियां और विदेशी व्यापार नीति हावी हो रहे हैं हम समझ नहीं रहे हैं। और उनके साथ व्यापार–व्यवहार को हम अपना गौरव मान रहे हैं। यह परतंत्रता की स्थिति ही है। क्या ऐसी परतंत्रता की स्थिति में धर्म की आराधना की जा सकती है ? धर्म–आराधना के लिए पहले पूर्ण स्वतन्त्र होना होगा ! अपने अंतर को पाशवि वृन्तियों और पाश्चात्य प्रवृत्तियों से छुटकारा दिलाना होगा। जब तक हम इनमें बंधे हैं, धर्म की सम्यक् आराधना नहीं कर पाएंगे। ऊपर से भले हम धर्म–आराधना कर लें पर जब तक भीतर वे मकड़ी के जाले फैले हुए हैं धर्म का प्रवेश हो ही नहीं सकता। हम बीज डालते हैं पर वे नष्ट हो जाते हैं। क्योंकि वहाँ जंगली घास इतनी उगी हुई है कि बीजों को खाद पानी मिल ही नहीं पाता और बीज पड़ा पड़ा ही मर जाता है। जहाँ निरन्तर ऐसी अवस्था बनी रहती है वहाँ भूमि बंजर बन जाती है परन्तु भोले भक्त यही सोचते रहते हैं कि हमारी धर्म वृन्ति सफल नहीं हो रही है। इसीलिए प्रभु महावीर ने कहा है–संशोधन–परिवर्तन होना चाहिये। आलोचना होनी चाहिये। अन्यथा धर्म की क्रिया सही नहीं रह पाएगी। परिणामस्वरूप आपको धर्म का जो लाभ और आनंद प्राप्त होना चाहिये, वह प्राप्त नहीं हो पाएगा ! इस बात को गहराई से समझें।

क्रिया टुकड़ों में नहीं देखी जा सकती क्योंकि परिणाम तक ले जाने में क्रिया के टुकड़ों का नहीं, सम्पूर्ण क्रिया का योग होता है। आप जानते हैं कि जंजीर तभी बनती है और तभी अपना उपयोग सार्थक कर पाती है जब उसकी कड़ियाँ परस्पर जुड़ी होती हैं। अलग–अलग कड़ियाँ कभी जंजीर का काम नहीं कर सकतीं। आप धार्मिक क्रियाएँ करते हैं, सामायिक करते हैं, व्रत–तपस्याएँ भी करते हैं, परन्तु उन व्यवसायों या धंधों में भी लगे रहते हैं जो जीवन, विचार और भावों को दूषित करने वाले हैं, तो तप आदि धार्मिक क्रियाओं का फल कैसे मिलेगा ?

आप देखिये, विदेशी चले गये, उनकी सत्ता समाप्त हो गई परन्तु जो देशी उनके स्थान पर आये, जो सत्ता स्थापित हुई, वह धर्म, न्याय और मानवीय मूल्यों की कितनी चिन्ता कर रही है ? विकास हो रहा है, परन्तु कौन सा विकास? परिग्रह का, उपभोग के साधनों का और सत्ता–साधनों का व्यक्तियों के हाथों में केन्द्रीकरण का विकास हो रहा है। पहले एक राजा होता था, अब नये राजा बहुत बड़ी संख्या में गाँवों तक में फैल गये हैं और जीवन के सभी क्षेत्रों पर छा गए हैं। आज तो समाज का प्रत्येक घटक किसी न किसी रूप में शोषण–पीड़न का एजेण्ट बन गया है। आप अपनी दिनचर्या को देखिये, जो कार्य या व्यापार आप करते हैं उसकी प्रकृत्ति को

देखिये, उससे होने वाले परिणामों को देखिये, उसके दूरगामी परिणामों की समीक्षा कीजिये तव आप समझ पायेंगे कि आपकी क्रिया सही हो रही है या नहीं।

संस्कार क्रांति व्यसनमुक्ति और वृत्ति–सुधार की जो बातें कही जा रही हैं, उनका अर्थ है। उनके कहे जाने की आवश्यकता है क्योंकि चरित्र और संस्कार दोनों दूषित हो रहे हैं। यह सब क्या और कैसे हो रहा है इसे समझने के लिये आत्मावलोकन कीजिये। भगवान् महावीर ने इस संबंध में वहुत पहले ही मार्गदर्शन कर दिया था। आप 'उत्तराध्ययन सूत्र' उठाकर देख लीजिये, उनतीसवें अध्ययन 'समत्तपरक्कमे' अथवा 'सम्यक्त्व पराक्रम' के अन्तर्गत आत्मसाधना पद्धति के प्रमुख साधनों पर गंभीर चर्चा की गई है। वहाँ 73 प्रश्नों के जो उत्तर दिये गये हैं ज्ञान, दर्शन, चरित्र एवं तप के प्रति सम्यक् श्रद्धा उत्पन्न कराने वाले हैं। वहाँ आलोचना, निन्दना और गर्हणा की वातें भी कही गई हैं। इन्हें समझना आवश्यक है क्योंकि ये वृत्तिपरिष्कार और चरित्र–निर्माण का आधार हैं। आप जानते हैं कि अपनी स्वयं की आलोचना अपनी क्रियाओं की उपयुक्तता–अनुपयुक्तता से परिचित करा देती है। गुरू के समक्ष अपने दोषों का प्रकाशन स्वयं द्वारा क्रियाओं का निरीक्षण और उनकी समीक्षा व्यक्ति को सही मार्ग पर लाने का कार्य करती है। ऐसा व्यक्ति स्वयं की निन्दना द्वारा पश्चात्ताप करता है और इस प्रकार मोहनीय कर्मों का क्षय करता है। गुरु के समक्ष, दूसरों के समक्ष अथवा अपनी स्वयं की आत्मा के समक्ष अपने दोषों को प्रकट करने के दूरगामी परिणाम होते हैं परन्तु आज व्यक्ति दुराव–छिपाव रखने वाला बन गया है। वह अपने दोषों को स्वयं से भी छिपाना चाहता है। इस प्रकार वह अपने आप को धोखा देता है, उसे कौन जगा सकता है ? यही प्रवृत्ति आज समाज के सभी वर्गों के लोगों में घर कर गई है, और आप जैन लोग भी इससे अछूते नहीं रहे है। पर आपका एक सौभाग्य यह अवश्य है कि संत लोग अपने प्रवचनों के माध्यम से आपको जगाने का काम करते रहते हैं, इसलिये उठो–नर नारियों जागों, जगाने संत आये है।

तो आप उठ बैठिये, सोने का बहाना और नाटक छोड़ दीजिये और अपने हृदय को शुद्ध कीजिये। उसमें उगी हुई जंगली घास को उखाड़ फेंकिये तभी संतों की वाणी उसमें पनप पायेगी; तभी आपकी साधना–आराधना उसमें फूल–फल पायेगी, तभी आपकी सद्वृत्तियों और सद्भावनाओं का खाद–पानी उसे पुष्ट कर पायेगा इस प्रकार अपनी साधना–आराधना का पूरा फल आप प्राप्त कर पायेंगे। आपकी साधना फूले–फले, आपके पुण्य के भण्डार को भर सके, यह इसी प्रकार संभव है। मैंने प्रारंभ में सिंहनी

के दूध के लिये स्वर्ण पात्र की आवश्यकता की बात कही थी–आप अपने आपको वैसा उपयुक्त पात्र बना लें जिससे उसमें धर्म का टिकाव हो सके। आप इस दिशा में प्रयत्नशील हों तथा ऐसे बनें।

☆☆☆

22.8.2000

तराशिये अपने रत्न को

यह जौहरियों की नगरी है। मैंने सुना है यहाँ पर जवाहरात के रूप में पन्ने का काम प्रचुर मात्रा में होता है। पारखी जौहरी पहले ऐसे मिट्टी के ढेले अथवा पत्थर को खरीदते हैं। जिसमें पन्ना होने की संभावना होती है। पर क्या ऐसे ढेले या पत्थर को खरीद लेने मात्र से पन्ना प्राप्त हो जाता है ?

नहीं। पत्थरों की छंटनी करने के बाद उनकी घिसाई होती है! घिसाई भी इस तरह से की जाती है कि जो क्षरणशील अतिरिक्त पदार्थ होता है वह अलग हो जाय। जैसे ही वह संयुक्त अन्य पदार्थ अलग हो जाता है वैसे ही वह पत्थर पन्ना या नगीना के रूप में निकल कर कीमती बन जाता है। ऐसी ही कुछ प्रक्रिया हम इस शरीर के माध्यम से आत्मस्वरूप को समझने के लिए कर सकते हैं। शरीर नश्वर है, क्षरणशील तत्त्व है। इसके साथ संयुक्त हुआ जो अक्षय तत्त्व विद्यमान है, जिसका क्षरण नहीं होता, उसे हम आत्मा कहते हैं। जौहरी की नजर में आये बगैर उसकी भी कीमत नहीं हो पाती। परन्तु विडम्बना यह है कि उस तत्त्व को अलग करने का प्रयत्न नहीं किया जा रहा है बल्कि उस क्षरणशील तत्त्व को ही प्रमुख मान कर हम उसकी उपासना में ही लगे रहते हैं।

आकलन करें कि हम 24 घंटों में से कितने घंटे उस क्षरणशील तत्व के लिए देते हैं और कितने घंटे उस अक्षर तत्त्व के लिये दे पाते हैं। पन्ने की घिसाई में भी समय लगता होगा, ऐसा नहीं कि थोड़ा घिसा और तुरन्त पन्ना निकल आया। इसके साथ ही घिसाई में भी कुशल शिल्पी की भी आवश्यकता रहती है। शिल्पी की कुशलता के अभाव में पन्ने को नुकसान पहुँच सकता है। इसी प्रकार आत्म तत्त्व से सम्बद्ध क्षरणशील

पदार्थ को दूर करने में भी समय, श्रम व कौशल लगता है तथा इस कार्य को करने के लिये भी प्रयत्न, पुरूषार्थ व शिल्पी की आवश्यकता होती है। अन्यथा कहा है–

मासे मासे उ जो बालो, कुसग्गेणं तु भुंजए।
न सो सुयक्खाय धम्मस्स, कलं अग्घइ सोलसिं।। (उत्तरा.9/44)

मास–मास खमण का तप भी कर ले पारणें में डाभ (दूब) के अग्रभाग पर आये जितना अन्न काम में ले या डाभ के अग्रभाग को खाकर पुनः मासखमण प्रारंभ कर दे तो क्या होने वाला है ? इससे उस आत्म तत्त्व रूप पन्ने की घिसाई हो नहीं पाती। भले ही एक नहीं, अनेक मासखमण कर लें। तामली तापस ने कितने मासखमण किये ? कहा जाता है कि 84 लाख मासखमण किये पर क्या हो गया उनका आत्मशोधन ? आत्मशोधन के लिए तप के साथ सरलता तथा आत्म–शोधन का लक्ष्य भी होना आवश्यक है। बाहुबली जी को पुरा एक वर्ष हो गया किन्तु उस अश्रावशील तत्त्व की घिसाई हो नहीं पाई। सार्थक रूप के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए भगवान् महावीर ने साधकों को निर्देश दिया है–

'तवेणं परिसोसियं' तप से घिसाई आत्मा का शोधन कर सकते हैं। आयुर्वेद में भी चाहे वे चरक महर्षि रहे हों या अन्य कोई इनका दृष्टिकोण शरीर शोधन का रहा किन्तु मन का शोधन भी आवश्यक है। शारीरिक शोधन अर्थात् तप से अनेक बीमारियां ठीक हो सकती हैं। महासती श्री गुलाबकंवरजी को लकवा हो गया था तथा और भी शारीरिक अड़चनें थीं। उदयपुर के डॉक्टरों ने भी हाथ अलग कर लिये (मना कर दिया)। महासती जी ने संथारा लिया, 14–15 दिन निकले होंगे, एकदम स्वस्थ.......। सब विकृति बाहर निकल गई। सहवर्ती सतियों ने संथारे का स्वरूप समझाया, आगार की स्थिति बतलाकर कहा–आप आहार कर सकती हैं। गुलाबकंवर जी बोली–नहीं 'मेरे संथारा है' अब आहार की बात ही नहीं। लगभग 82 दिन तक संथारा चला। उस समय खिड़की से सूर्य का ताप महासतीजी पर आता था, महासतियों ने पर्दे की व्यवस्था भी करनी चाही तो उन्होंने मना कर दिया। चाहे कितनी भी गर्मी पड़ रही हो पर उन्होंने अपनी अवस्था को शांत–प्रशांत रखा। दूसरी ओर तामली तापस ने 84 लाख मासखमण किये होंगे पर क्या हो गया उनका आत्मशोधन ? आत्मशोधन के लिए सरलता की आवश्यकता होती है।

'उज्जुमइ खंति संजमरयस्स' जिसकी मति ऋजु हो अर्थात् मति में टेढ़ापन न हो। बाहुबली की मति में गहरा टेढापन नहीं था, किन्तु थोड़ा सा

टेढ़ापन भी बना रहे तो पूरी घिसाई नहीं हो पाती। इसलिए तप के साथ मति का सरल होना भी आवश्यक कहा गया है।

सामान्य रूप से साधु नित्य तपस्वी है। उसे भोजन करते हुए भी तपस्वी माना है। क्योंकि प्रतिदिन रात्रि भोजन अर्थात् एक वक्त का तो वह त्यागी होता ही है। इसलिए भगवान् महावीर ने कहा है–

'अहो णिच्चं तवो कम्मं' अर्थात् साधुओं के लिए प्रतिदिन तप होता है। रात्रि भोजन त्याग का ही गणित लगा लें तो भी वर्ष में 6 माह का तप हो जाता है। फिर भी साधक को सावधान किया गया कि हे साधक ! तू केवल तप के आधार पर अपनी मति को वक्र मत बना लेना। यह मत सोच लेना कि मैंने बड़ी तपस्या की है। तुझसे बड़े अनेक तपस्वी हो चुके हैं। जब तक जीवन में ऋजुता नहीं तब तक आत्म रक्षण नहीं हो सकता। वह तप कभी अहं को प्रदर्शित करने वाला तो कभी क्रोध की ज्वाला को भड़काने वाला भी बन सकता है। वैदिक संस्कृति में विश्वामित्र के तप का वर्णन मिलता है। कितना उग्र तप किया था उन्होंने किन्तु अहंकार के कारण वे ब्रह्मऋषि नहीं बन पाये।

आप देख रहे हैं महासती समताजी को, दुबली–पतली काया और मासखमण पूरा कर लिया। ऐसा नहीं कि जो मोटा हो वही तप कर सकता है। उम्र भी कोई ज्यादा नहीं दिखती। कोई 24–25 वर्ष की होंगी, उसमें 30 की तपस्या दृढ़ मनोबल के बिना सम्भव नहीं थी। अन्यथा 80 वर्ष की उम्र में भी व्यक्ति तप का आचरण नहीं कर पाता। अन्तराय टूटी तो बीकानेर की समता बांठिया ने 10 वर्ष की उम्र में 31 की तपस्या कर ली। आज जिनके मास खमण की तपस्या है नाम ही उनका समता है। वस्तुतः वह समता–मूलक तप ही हमारी आत्मशुद्धि में सहायक होता है। अक्षर तत्त्व उस आत्मा की प्राप्ति करा सकता है, जिसका कभी क्षरण नहीं होता। पर उस अक्षर तत्त्व की प्राप्ति तभी होगी जब अन्तर्भावों में समता आ जाए। समता की उपलब्धि के बिना अक्षर तत्व की उपलब्धि भी नहीं हो सकती।

जौहरियों की नगरी में ये महासतीजी निरन्तर उस अक्षर तत्त्व को प्राप्त करने में लगी हैं। उत्तराध्ययन सूत्र में आहार ग्रहण के छः कारण व आहार त्याग के भी छः कारण बताये गये हैं। उनमें तपस्या के लिए आहार छोड़ना भी एक कारण है। तपस्या से शरीर का भी शोधन होता है और मन व आत्मा का भी आपने यह दृष्टांत सुना होगा–एक सेठ के पुत्र का स्वर्गवास हो गया–सेठ ने विचार किया अब मुझ पर पुत्रवधू के जीवन को संयमित रखने का भी उत्तरदायित्व आ गया है। मैंने यदि स्वयं को संयमित

नहीं किया तो इसे कैसे संयमित रख सकूंगा। सेठ ने अपने रहन–सहन, खान–पान में पूरा बदलाव कर लिया। अब वे किसी भी उत्तेजनापरक पदार्थों का सेवन नहीं करते थे। पहनावा भी सादा चालू कर दिया। उन्हीं के अनरूप घर में भोजन सामग्री तैयार होती। पुत्रवधू भी वही भोजन करती जिससे उसका मन शांत रहता था। मन में कभी भी विचलन भाव नहीं आया किन्तु एक बार उसके पीहर में विवाह–शादी का प्रसंग था। सेठ नहीं चाहते थे पर पीहर वालों के आग्रह से उन्हें उसे पीहर भेजना ही पड़ा। पीहर में खान–पान बदल गया। वहां पर खाने पीने का संयम नहीं रख पाई। पुनः ससुराल में आई तो आते ही कहा–मुझसे ब्रह्मचर्य का पालन नहीं हो सकता अतः मेरी व्यवस्था कर दीजिये। उस बहू का एक नियम था कि ससुर के खाने के बाद ही खाती थी। और जो बात मन में आती थी तो ससुर के समक्ष प्रस्तुत कर देती थी। तदनुसार उसने बात सेठ के समक्ष कह दी। ससुर जी उसकी बात को सुना और कहा–ठीक है, व्यवस्था कर दूंगा पर अभी मुझे जरूरी काम है। सेठजी दिन भर जरूरी काम में लगे रहे, खाना नहीं खाया तो बहू ने भी खाना नहीं खाया। दूसरे और तीसरे दिन भी सेठजी ने खाना नहीं खाया, बही खाता टटोलना जैसे किसी न किसी काम में लगे रहे। बहू ने सोचा–सुसरजी को कोई जरूरी काम होगा अतः खाना नहीं खा रहे हैं। उसने भी खाना नहीं खाया और ससुरजी के कामों में यथायोग्य हाथ बंटाती रही। तेला हो गया, दिन भर काम करते थक कर चूर हो गयी रात्रि में गहरी नींद में सो गई। उसे अब किसी भी बात की याद नहीं आई। तेले की पिछली रात्रि को उसके मन में विचार आया कि लगता है मेरे ही कारण ससुरजी ने तीन दिन से भोजन नहीं किया है। मेरे मन में जीवन को दाग लगाने वाला फितूर क्यों आ गया। उसका मन स्वतः आलोचना व गर्हा में चला गया। सुबह वह सेठजी के पास आकर उनसे पारणे का अनुनय करने लगी व अपनी स्थिति को भी स्पष्ट कर दिया। जो मैंने कहा उसकी अब आवश्यकता नहीं है !

बन्धुओं ! उस सेठ ने पुत्र वधू के लिए तेले का तप किया जो मन के विकार दूर करने में निमित्त बने। तप तन–मन के ही नहीं आत्मा के विकारों को भी दूर करता है। तेले की तपस्या से ही पुत्रवधु आलोचना गर्हा में गई। इस प्रकार वह तप आत्मा के विकारों को भी दूर करने वाला बना !

हमारी वृन्ति है संग्रह करने की हम और वस्तुओं का संग्रह तो करते ही है पर कर्मों का संग्रह भी करते हैं चाहे आवश्यकता हो या न हो। निन्दा करना, चुगली करना यह जीवन जीने के आवश्यक तत्त्व नही हैं फिर

भी करते है क्योंकि हमारी आदत रही है संग्रह करने की। ज्ञानियों ने धन को भी कचरा बताया है। वैसे ही कर्मों का भी कचरा है। उसकी आवश्यकता हो या न हो या फिर भी निन्दा–विकथा के माध्यम से हम कर्मों का कचरा इकट्‌ठा करते रहते हैं, इसलिए अक्षर तत्त्व को पहचान नहीं पाते।

किसी ने कह दिया–ओ काले अरे मूढ़। इतना सुनते ही व्यक्ति आपे से बाहर हो जाता है। मुझे ओ काले ! अरे मूढ़ कैसे कह दिया ? पर सोचिये कहने वाले ने–कह दिया तो कह दिया उससे क्या फर्क पड़ता है ? सभी की आंखों में कालापन है या नहीं ? यदि आंख का कालापन हट जाय तो कैसा लगेगा ? चेहरा डरावना लगेगा। कुछ नहीं दिखेगा, डॉक्टर के पास जाना पड़ेगा। और सिर पर बालों को देखिये–काले हैं या सफेद ? सफेद होने पर क्या उन्हें काला करने के लिए आप उपाय नहीं करते ? फिर भी काला कहने पर आवेश आ जाता है। उस शठ ने, दुष्ट ने मुझे ऐसा कह दिया !....कालेपन से आपका लगाव नहीं है ऐसी बात तो है नहीं। अन्यथा सफेद बालों को डाई लगाकर काला क्यों करते ? जब कालेपन से इतना लगाव है तो काला कहने पर इतना आवेश क्यों ?

"शठे शाठ्यं" यह हमारा निंयम नहीं है। हम सोच लेते हैं–कोई एक ईंट मारता हैं तो हम उसे पत्थर मारें। किन्तु हमारा यह सोच सही नहीं है। हमें तो सोचना चाहिये–वह अज्ञानी है। बच्चा हैं। चांटा लगा दे तो हम पुनः उसके चांटा तो नहीं लगाते किन्तु उसे पुचकारते है। वैसे ही ईंट मारने वाले के प्रति भी 'मित्ती में सव्वभूएसु' भावना लाकर उसे गले लगा लो। इस तरह दुश्मनी रखने वाले के प्रति भी जो मैंत्री का व्यवहार करता है उसकी सुगति होती है। यही आत्मा के शुद्धिकरण का मार्ग है।

आज जन्माष्टमी का प्रसंग भी है। आज के दिन श्री कृष्ण ने जन्म लिया था। उनका जन्म जेल में हुआ था। कहते हैं उनके जन्म पर जेल के सारे ताले टूट गये थे। यमुना ने भी मार्ग दे दिया था। रात्रि का समय था, वर्षा भी हो रही थी। जब यह तपस्या तन–मन का शोधन कर सकती है तो क्या प्रकृति का शोधन नहीं कर सकती ? इस तप की महिमा को पहचानिये क्योकि तप धर्म का एक आवश्यक अंग है–'धम्मो मंगल मुकिट्ठं' अहिंसा, संजमो, तवो। 'जब भगवान महावीर से प्रश्न किया गया कि तप से जीवन को किस फल की प्राप्ति होती है–'तवेणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ? तब भगवान् ने स्पष्ट उत्तर दिया–'तवेणं वोदाणं जणयई' (उत्तरा 27'28)–तप से संचित कर्म नष्ट होते हैं।

मैं इस नगर के एक प्रमुख व्यवसाय की वात कह रहा था–यह

जौहरियों का नगर है। यहाँ विशेष रूप से पन्ने का काम होता है। पन्ने को रत्न के रूप में प्राप्त करने के लिये अशुद्ध पिण्ड या पत्थर की घिसाई होती है। घिसाई क्या है ? तप का ही एक रूप है। और तप क्या है ? भौतिक शरीर की घिसाई। तप द्वारा घिसाई होने पर आत्मा शुद्ध–पवित्र होती है। उत्तराध्ययन में तप को ज्योति और जीव को ज्योति का स्थान कहा गया है। आप यह भी जानते हैं कि सोना तप कर ही कुन्दन बनता है। मनुष्य को अशुचि और अशुद्धि का पुतला माना गया है। परन्तु अपनी आत्मा को तप द्वारा निर्मल कर वह मोक्ष का अधिकारी बन जाता है। जौहरियों के नगर में धातु और रत्नों को शुद्ध या सच्चा बताने का प्रसंग ही नहीं बनता–वे तो स्वयं पारखी होते हैं परन्तु उनके लिए सचेत, जाग्रत और तत्पर रहना आवश्यक है अन्यथा ठगे जाने का भय हो सकता है। आप लोग देह पिण्ड में छिपे चैतन्य रत्न को पहचानिये और कटाई–घिसाई जैसी प्रक्रियाओं से उसे शुद्ध रूप में प्राप्त कीजिये। यह भी ध्यान रखिये कि तपस्या के उपक्रम में जो शारिरिक कष्ट भोगा जाता है उसके पीछे इन्द्रियदमन का उद्देश्य निहित रहता है। तपश्चर्या का मूल मन्तव्य ही शारीरिक' प्राकृतिक एवं अन्यकृत पीड़ा या कष्ट को सहन करने की सामर्थ्य को प्राप्त करना ही माना जाता है। जब यह सामर्थ्य प्राप्त हो जाता है तब प्रकृति में ऋजुता आ जाती है जो आत्मा को परमात्मा के रूप में ढालने के लिये आवश्यक होती है। आप लोग स्वयं को परखें, खोट को पहचानें तथा आलोचना–निन्दना –गर्हणा द्वारा उसे निकालने का उपक्रम करें। इस प्रकार आत्मा की शुद्धता प्राप्त करें। आप अपने भौतिक व्यवसाय को आध्यात्मिक व्यवसाय का अनुगामी बनाइये फिर निश्चिन्त हो जाइये–"हीरा जनम अमोल था कौड़ी बदले जाय," वाली बात नहीं हो पायेगी।

· तप को ताप नहीं, प्रकाश मानिये, प्रदर्शन नहीं, दर्शन मानिये। तप के प्रकाश में शुद्ध आत्मा के दर्शन कीजिये, उसे उपलब्ध किजिये और इस भव को सफल बनाइये। तप द्वारा ही शाश्वत सुख का मार्ग प्रशस्त होता है। उत्तराध्ययन सूत्र में स्पष्ट कहा गया है– "भव कोड़ी संचियं कम्भं तवसा निज्जरज्जई" अर्थात् करोड़ों भवों के संचित पाप तपस्या द्वारा नष्ट हो जाते हैं। तप परम श्रेष्ठ है। उसके मार्ग पर चलने की मानसिकता विकसित कीजिये जिससे आत्मस्वरूप का प्रकरीकरण संभव हो।

☆☆☆

23.8.2000
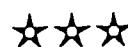
धर्म सुना तो क्या हुआ ?

तीर्थकर देव जब देशना प्रवाहित करते हैं और शुद्ध धर्म तत्त्व और उस धर्म–तत्त्व की व्याख्या से जन समुदाय को लाभाविन्त करते हैं तब वे स्पष्ट करते हैं कि धर्म क्या है, धर्म का स्वरूप क्या है, और धर्म का आचरण कौन कर सकता है ? धर्म के स्वरूप को जान लें, धर्म क्या है, इसे भी समझ लें पर धर्म की पात्रता किसको है, कौन व्यक्ति उसकी आराधना कर सकता हैं, इसका विज्ञान यदि न जानें तो धर्म संबंधी ज्ञान अधूरा है। इसे किंचित विस्तार से समझें।

गति चार हैं, नरक गति, तिर्यंच गति, मनुष्य गति और देव गति। इन चारों गतियों में जीव ठसाठस भरे हुए हैं। पूरा लोक जीवों से व्याप्त है पर सारे जीव धर्म की आराधना नहीं कर सकते। न निगोद अवस्था में रहने वाला ही धर्म की आराधना कर सकता हैं क्योंकि उसे स्वयं का ही कोई वोध नहीं होता है। वह तो स्वयं को ही जान नहीं रहा होता है, उसका कोई जागरण भी नहीं होता है, न यह ज्ञान होता है कि मैं कौन हूं। ऐसी अनुभूति वहां रखते हुए उसे नहीं होती है। उसका संवेदन भी बहुत सामान्य होता है। ऐसे जीवों की जड़ के समान अवस्था वनी होती है। जड़ के समान का तात्पर्य जड़ होना नहीं हैं, चेतना उनके भीतर होती है किन्तु वह इतनी अव्यक्त चेतना होती है कि उसका सहजतया अनुभव कर पाना अत्यंत कठिन होता है। तीर्थकर देवों की वाणी के आधार पर हम उनकी संवेदना का भले ही कुछ कथन कर लें अथवा वैज्ञानिक अपने साधनों से उनके भीतर की संवेदना को भले पकड़ लें, किन्तु आम जनता उनके संवेदन का अनुभव प्रायः नहीं कर पाती है।

पृथ्वी का ही पिण्ड लीजिये। एक पत्थर पड़ा हुआ है। हम तीर्थकर

देवों की वाणी के आधार पर यह मान लेंगें कि इसमें पृथ्वीकाय के जीव हैं। पर क्या हमारे पास इसे प्रमाणित करने के साधन है ? जीवन की कोई भी प्रक्रिया उनमें दृष्टिगत नहीं हो पायेगी तर्कबल की बात भिन्न है वैज्ञानिकों के खोजों के कारण व्यक्ति आज वनस्पति में जीव की उपस्थिति को स्वीकार करने लगा है किन्तु पहले वनस्पति में भी जीव मानने के लिए लोग तैयार नहीं होते थे। तो ऐसी अव्यक्त चेतनाएं संसार में ठसाठस भरी हुई हैं पर उन्हें धर्म का बोध नहीं होता। धर्म–तत्त्व के ज्ञान के लिए जीव की वह अवस्था उपयुक्त नहीं है। उस अवस्था में रहते हुए जीव न तो धर्म को समझ सकता है, न धर्म की आराधना कर सकता है। पुण्यवानी का जब कुछ संचय होते है, जब पुण्य का प्रसंग जुड़ता है तब निगोद की आत्माएं कुछ विकास करती हैं। प्रत्येक शरीरी बन जाते हैं और पुण्यवानी आगे बढ़े तो द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय के रूप में आ सकती हैं पर उनके भले दो इन्द्रियाँ हो जाएं, तीन इन्द्रियाँ हो जाएं, चार इन्द्रियां हो जाएँ किन्तु धर्म की आराधना वे जीव भी कर नहीं पाते हैं। आंख होती है, आंख से देखता भी है किन्तु देखते हुए भी वह स्वयं को नहीं देख पाता है। इन सारी अवस्थाओं में हमारी आत्मा भी भटकी है। ऐसी कोई भी अवस्था हमने छोड़ी नहीं है जिसमें हमारी आत्मा ने जन्म–मरण ग्रहण नहीं किया हो। जब आगे विकास होता है, तब पांच इन्द्रियां प्राप्त हो जाती हैं। पांच इंन्द्रियों में स्पर्श इंद्रिय रस इंद्रिय और चक्षु इंद्रिय तो पहले प्राप्त थीं पर अब एक श्रवण इंद्रिय भी प्राप्त हो जाती है। किन्तु श्रवण इन्द्रिय के प्राप्त हो जाने पर जरूरी नहीं है कि उसको धर्म तत्त्व श्रुति को मिल जाए, सुनने को मिल जाए।

पांच इन्द्रियों वाले भी दो प्रकार के जीव होते हैं। एक मन वाले होते हैं और एक बिना मन वाले होते हैं। जिनके मन नहीं है उनके लिए भी धर्म की आराधना सुलभ नहीं है क्योंकि संज्ञा नहीं है। संज्ञाहीन व्यक्ति, संज्ञाहीन प्राणी कैसे धर्म की आराधना करेगा ? धर्म की आराधना होती है जाग्रत अवस्था में। बोध अवस्था भले हो, पर संज्ञाहीन अवस्था में जी रहे होते हैं। व्यवहार में कोई व्यक्ति, जिसकों इधर–उधर का कोई ध्यान ही नहीं पड़ रहा है, जिसमें ऐसी कोई संज्ञा ही नहीं है उसके लिये कहते हैं कि कैसा संज्ञाहीन व्यक्ति है। जब वह इस प्रकार की संज्ञाओं से समृद्ध नहीं है तो उससे धर्म की आराधना कैसे हो पाएगी ? उसके लिए चाहिए जागरण और वह जागरण मुख्य रूप से मनुष्य में ही हो सकता है और उस जागरण के आधार पर, क्रियात्मक रुप से धर्म की आराधना प्रधानतया एक मात्र मानव ही कर सकता है। पूरे जगत् के प्राणियों में यदि किसी को यह

अधिकार है कि वह प्रधानता से धर्म की आराधना कर सके तो वह एकमात्र प्राणी मानव ही है।

मानवों की संख्या पूरे जीव समुदाय में आटे में नमक जितनी भी नहीं हो पाएगी और इतने मानवों में भी सारे के सारे मनुष्य धर्म की आराधना करने वाले भी नहीं होते। आठ दिनों के पुर्यषण में लोगों को जगह नहीं मिल रही थी और संवत्सरी के दिन तो लोग कहते हैं कि ऊपर नाल में भी पैर धरने की जगह नहीं थी, लोग नीचे से ही लौट रहे थे, और आज लाल भवन की दरियाँ सूनी पड़ी हैं क्यों ? संवत्सरी के दिन लाल भवन में भी और जयपुर में जहां–जहां भी चातुर्मास चल रहे है, उन सभी जगहों पर पूरे जयपुर के मनुष्य नहीं पहुंचे बल्कि मैं तो यह कह दूं कि पूरे जयपुर के मनुष्यों को भी छोड़ दीजिए, जयपुर का पूरा जैन समाज भी नहीं पहुंचा। अव आप विचार किजिए कि इस स्थिति में धर्म–तत्त्व की पात्रता रखने वाले कितने प्राणी मिलेंगे ? मैंने तो पूर्यषण पूर्व के सातवें दिन ही यह बात स्पष्ट कर दी थी कि जितने व्यक्ति श्रोता होते हैं उतने उपभोक्ता नहीं होते। धर्म–तत्त्व को सुनना एक बात है और धर्म की आराधना होना अलग वात है।

प्रभु महावीर ने उत्तराध्ययन सूत्र में कहा है–

चत्तारि परमंगाणि दुल्लहाणीह जन्तुणो।
माणुसुत्तं सुई सद्धा संजमंमि य वीरियं।।

इसमें जीव के लिए चार अंग परम दुर्लभ बताए गये हैं। एक तो मानवता, उसके बाद सुनना और सुनने के वाद श्रद्धा। श्रद्धा के साथ चौथा परम दुर्लभ अंग वताया है उसका आचरण करना अर्थात् उस धर्म–तत्त्व का उपभोक्ता बनना, यह बड़ा दुर्लभ अंग है। कान से सुनने वाले तो बहुत होंगे किन्तु रोहिणेय चोर, जिसके पिता ने कहा था कि तू जो कुछ भी कर पर एक वात मेरी मान लो, चोर ने पूछा–पिताजी, बताइए बात क्या है ? तो पिता ने कहा कि और मैं तुम्हें कुछ भी मना नहीं करता, जहां जाना हो, जाना जो कुछ करना हो, करना किंतु एक श्रमण निर्ग्रंथ महावीर हैं, भूल करके भी कभी उन महावीर का प्रवचन मत सुनना, महावीर की वाणी को भूल कर भी मत सुनना। उसने अपने पिता से कहा कि नहीं सुनूंगा। पिता का स्वर्गवास हो गया अव एक संजोग देखिये–रोहिणेय चोर एक वार चोरी करने जा रहा था। पुलिस वाले को पता लग गया था। वह भी पीछे दौड़ रहा था, दौड़ते हुए एक कांटा चोर के पैर में गड़ गया आप जानते हैं कि एक कांटा भी पैर में गड़ जाए तो चलना ही मुश्किल हो जाता हैं, दौड़ना

तो दूर की बात है। अब उसका पैर जमीन पर नहीं पड़ रहा था और उधर पास ही भगवान् महावीर की देशना चल रही थी। पिता को दिये गये अपने वचन के अनुसार चोर नें दोनों कानों में अंगुली रख दी थी। अब भारी संकट उत्पन्न हो गया, कान में से हाथ को अलग नहीं किया जाता है तो कांटा नहीं निकाल पाएगा और कांटा नहीं निकाल पाए तो दौड़ नहीं पाएगा और अगर वह नहीं दौड़ पायेगा तो उसे पुलिस वाला पकड़ लेगा। प्राण सबको प्रिय होते हैं

सव्वे जीवा वि इच्छंति जीविउं ण मरिज्जिउं।

सभी जीव जीना चाहते हैं, मरना कोई नहीं चाहता। चाहे कोई व्यक्ति कितना भी दुःखी क्यों न हो, भले ही मुंह से कह रहा हो कि भगवान् मुझे उठा ले, किन्तु कोई आ जाए कि भगवान् का भेजा हुआ दूत हूं और तुमने भगवान से निवेदन किया इसलिए मैं तुम्हें उठाने आया हूं, तो यह कहेगा कि तु मुझे मत उठाना, अभी क्यों उठा रहे हो,? रोहिणेय चोर को भी अपने प्राण प्यारे थे। पीड़ा बहुत हो रही थी अतः उसने सोचा–जो कुछ होगा देखा जायेगा अभी तो अंगुलियां कान से हटानी ही पड़ेंगी। और उसने अंगुलियां निकालने के लिए हाथ हटाये, कांटा निकाला और जितनी देर में कांटा निकला, उतने समय तक भगवान महावीर की वाणी उसके कानों में पड़ती रही। सुना तो जरूर उसने किन्तु क्या उस वाणी पर उसने श्रद्धान किया ? विश्वास किया ? उसने उस वाणी पर विश्वास नहीं किया, सुन लिया, जो कुछ है ठीक है, सुन लिया किन्तु जब अभयकुमार ने रोहिणेय चोर को अपने चक्कर में लेने का प्रयत्न किया कि कैसे इससे अपना अपराध उगलवाए तो समस्या उत्पन्न हो गई क्योंकि चोर भी बड़ा धुरंधर, अभयकुमार की बुद्धि का भण्डार और रोहिणेय चोर में भी बुद्धि की कमी नहीं। अभयकुमार डाल–डाल चलता तो रोहिणेय पात–पात पर चलता। अभयकुमार की योजना उसने असफल कर दी। अब आप स्वयं ही विचार कर सकते हैं कि अभयकुमार से रोहिणेय चोर बुद्धि में कोई कम नहीं पड़ रहा था हाँ यह बात अलग है कि अभय कुमार की बुद्धि सद्बुद्धि के रूप में थी और रोहिणे चोर की बुद्धि का कुमति के साथ सम्बन्ध जुड़ा हुआ था। बुद्धि–तत्त्व एक है, यदि सही रूप में चले तो व्यक्ति का विकास हो सकता है और यदि उसमें विपरीतता आ जाए तो वह कहां से कहां व्यक्ति को उठाकर ले जाय और नीच वृत्ति में या गर्त में ढकेल दे। अभयकुमार ने रोहिणेय चोर को पकड़ लिया, विश्वास हो गया कि यह चोर है पर न्याय कहता है कि केवल इतना कहने से कोई चोर नहीं हो सकता। कोई व्यक्ति

चोर है इसका प्रमाण आवश्यक होता है। बिना प्रमाण के किसी को दण्डित नहीं किया जा सकता। यदि बिना प्रमाण के किसी को दण्डित किया जा सकता हो तो मेरे खयाल से कोई भी नहीं बचेगा, किसी पर भी गाज गिर सकती है। किसी भी व्यक्ति से थोड़ा भी वैर–विरोध होगा तो उसे दण्डित करने की स्थिति बन जायेगी। हालांकि जहां स्वस्थ न्याय–प्रक्रिया नहीं है वहां पर छोटे–छोटे और निरपराध व्यक्ति भी उसमें फंस सकते हैं। इसीलिए नमि राजर्षि से प्रश्न किये गये थे– आप पहले राज्य की सुव्यवस्था कर दीजिए और जो भी चोर–उचक्के अपराधी तत्व हैं, उनको दण्ड देकर पूरी शांति की स्थापना कर दीजिए। नमि राजर्षि को आत्म ज्ञान जागृत हो चुका था, बोध प्रकट हो चुका था और उनके जीवन में धर्म–तत्त्व वास कर चुका था। उन्होंने कहा था कि संसार में रहते हुए अनेक बार मति की भ्रमणा के कारण से मिथ्या दण्ड का भी प्रयोग हो जाता है। मिथ्या दण्ड इस प्रकार हो जाता है कि जो व्यक्ति अपराधी नहीं हो उसको भी अपराधी के कठघरे में खड़ा कर दिया जाता है। जो व्यक्ति अपराधी नहीं है उसके विरुद्ध इस प्रकार की षडंयत्रपूर्ण स्थितियां बनती हैं कि न्यायी को भले लगे कि यह दोषी है, अपराधी है। महासती अंजना निर्दोष थी, किन्तु उनकी ननद ने, उनकी सासू ने या परिवार के किसी भी सदस्य ने क्या महासती अंजना पर विश्वास किया ? सबके सब क्या मान रहे थे ? जो सासू अपनी वहू पर इतना विश्वास करके चल रही थी, उसने भी जैसे ही अंजना को गर्भवती के रूप में देखा तो कहा–कुलक्षिणी निकल मेरे घर से। ऐसा होता है कि जो सदस्य वर्षों से घर में रह रहा हो और कभी उस पर कोई लांछन नहीं लगा हो, जिसने अपने जीवन को किसी कारण से कलंकित नहीं किया हो उस पर भी लांछन लग सकता है। अंजना विनयपूर्वक कहती है कि मैं सही हूं, मेरे पास में अंगूठी पड़ी हुई है पर फिर भी वह नहीं मानी। संसार में इस प्रकार के मिथ्या दण्ड का प्रयोग हो जाता है। महासती अंजना के साथ ऐसा ही हुआ था। हालांकि उनका जीवन कलंकित नहीं था, किन्तु कलंक लगा दिया गया था इस कारण कलंकित अवस्था में उनको अपना घर छोड़ना पडा था। पीहर पहुंचती तो वस्तुस्थिति जानने के बाद वहां पर सम्राट महेन्द्र ने भी कहा कि कलंकित अगर मेरी लड़की भी है तो उसको मैं स्थान नहीं दे सकता।

वंधुओं, तव हम यह समझ लें कि भ्रम और गलतफहमियॉ सामान्य स्थितियॉ हैं। यहां भी यद्यपि सासू ने छल–छद्म करके उसको कलंकित नहीं किया था तथापि परिस्थितियां ऐसी वन गई थीं जिनमें उसने कह

दिया था– तुम गलत हो, और वह दूसरी कोई बात सुनने को तैयार नहीं हुई।

नमि राजर्षि कहते हैं कि आप मुझसे कहते हो कि चोर–उचक्कों को दण्ड देकर राज्य में शांति की व्यवस्था कर दी जाए किन्तु यहां पर अज्ञान अवस्था में अनेक बार जो चोर हैं वे बच जाते हैं, जो अपराधी हैं वे निकल जाते हैं और निरपराधी व्यक्ति न्याय प्रक्रिया के चक्रव्युह में उलझ जाता है। क्या आज ऐसा नहीं होता है ? आज के युग में तो किसी का नाम उछाल दो एक बार, बस अखबार रंग जाएंगे फिर भले ही 10 दिन बाद कह दो कि वह बात गलत थी, पर एक बार तो वे उछाल ही देंगे कि इस केस में यह फंस गया, उस केस में वह फंस गया। भले संबंध जुड़े या नहीं, और खोज प्रक्रिया जब होगी तब होगी, लेकिन एक बार तो उसे कठघरे में खड़ा कर दिया जायेगा।

अक्षयकुमार यह जान रहे हैं कि रोहिणेय चोर है, किन्तु न्यायपालिका के लिए प्रमाण ही आवश्यकता होती है और बिना प्रमाण के चोर को भी चोर कहा नहीं जा सकता। कैसी भारी दुविधा थी कि जिसको जान रहे थे कि यह चोर है किन्तु इसके बावजूद भी बिना प्रमाण के उसे चोर नहीं कहा जा सकता था, उसे दण्ड नहीं दिया जा सकता था। वस्तुतः प्रणाली यह रही है कि अपराधी को अपराध स्वीकार कराकर दण्ड दिया जाय। यह नहीं कि बिना अपराध के किसी को दण्डित कर दें। यदि कोई भी दण्ड दिया जाता है तो पहले अपराधी से अपराध को स्वीकार कराना होता है। उसे कहना होता है कि यह अपराध मैंने किया है। जब वह अपने जुर्म को स्वीकार कर लेता है तब उसे दण्ड दिया जाता है। यदि वह जुर्म को स्वीकार नहीं करे तो आगे से आगे तारीखें पड़ सकती हैं, केस लम्बित हो सकता है, किन्तु उसे दण्डित करना कठिन होता है। यह भी हो सकता है कि प्रमाणों के आधार पर उसे अपराधी सिद्ध किया जाय। यदि उस पर जो आरोप लगाये गये हैं और उन आरोपों की यदि खंड़ना नहीं होती है तो वैसी स्थिति में न्याय प्रक्रिया में उसे अपराधी घोषित करके दण्ड दिया जाता है।

बंधुओं, शास्त्रों में भी ऐसी प्रक्रियाएं मिलती हैं। एक साधक पर कोई दूसरा साधु आरोप लगा सकता है। वह आरोप सत्य भी हो सकता है और गलत भी हो सकता है।

इस संवंध में एक बड़ा सुन्दर उदाहरण मिलता है।

एक छोटा मुनि दीक्षा पर्याय में ज्येष्ठ रत्नादि मुनि के साथ गोचरी के लिए निकला। उसने विचार किया कि वड़े मुनिराज मुझे वार–वार टोकते

रहते हैं, वार–वार कुछ न कुछ कहते रहते हैं, मुझे भी कोई ऐसा मौका मिले कि मैं इनसे जितना वदला लेना है सारा ले लूं। मुनिराज भिक्षा के लिए चल रहे थे। आगे वड़े मुनि थे और पीछे ये छोटे मुनि चल रहे थे। चलते–चलते एक स्थान पर पहुँचे जहां मेढ़क का सूखा कलेवर था। दो कदम आगे वढ़े कि छोटा मुनि चिल्लाया–महाराज रुकिये, आपने मेढ़क की हिंसा कर दी है। आपके पैर से दवकर मेढ़क मर गया है। अव आप इसका प्रायश्चित्त कीजिये, मिच्छामी–दुक्कड कीजिये। वड़े संत पीछे मुड़े और देखकर कहा–भाई, यह क्या बोल रहे हों ? यह मेरे पैर से मरा हुआ मेढ़क कहां है यह तो कई दिनों पहले का मरा हुआ है। यह तो एकदम सूखा पड़ा हुआ है। आज के मरे हुए मेढ़क और पहले के मरे हुए मेढ़क में अन्तर होगा या नहीं ? आज अगर पैर पड़ गया होता तो यह छटपटा रहा होता मांस रक्त आदि विखरा होता। किन्तु यहां तो एक सूखा कलेवर पड़ा हुआ है। लेकिन छोटे मुनि ने कहा कि यह यदि मेरे पैर से मरा होता तो आप क्या–क्या वातें मुझे सुना देते और आपके पैर से मर गया तो आप कहते हैं कि यह सूखा हुआ है भिक्षा अस्तुचर्या समाप्त हुई। वे लौट कर स्थानक में आये पर छोटे मुनि की वही रट लगी रही। उसने वड़े गुरु महाराज से भी अर्ज कर दी कि गुरुदेव, मैं इन मुनि के साथ में भिक्षा के लिए गया था, रास्ते में इनके पैर से एक मेढ़क मर गया। अव देखिये कि आरोप तो लगा दिया किन्तु शास्त्रकार कहते हैं कि केवल आरोप लगा देने से सामने वाले मुनि को दंडित नहीं किया जा सकता। जिसने आरोप लगाया है उससे पूछा जाएगा कि तुम्हारे पास प्रमाण क्या है ? पहले वह प्रमाणित करे कि इनसे इस प्रकार की हिंसा की है। यदि वह प्रमाणित कर सकता है तो जिस पर आरोप लगाया है उससे भी पूछा जाता है और वह यदि उसको स्वीकार कर लेता है तो जो न्याय के अनुसार प्रायश्चित्त आता है वह उसको दिया जाता है। परन्तु यदि सामने वाले मुनि उस अपराध को स्वीकार नहीं करते है तो पुनः आरोप लगाने वाले से पूछा जाता है। उसके लिए साक्षी की आवश्यकता पडती है। वह किन्हीं श्रावकों के नाम वता देता है तो वे श्रावक जव आते हैं तव उनसे पूछा जाता है। वे कह दें कि हमें पता नहीं पर आरोप लगाने वाला फिर आरोप लगाने लगे इनके सामने मेढक मारा गया, यह अव झूठ वोल रहे है, सांठ–गांठ कर ली हैं। इस प्रकार की यदि वाते वनाकर यदि माया–मृषावाद का सेवन करने वाला वन जाता है और आरोप सिद्ध नहीं हो पाये तो आरोप लगाने वाला भी उतने ही प्रायश्चित्त का अधिकारी वन जाता है।

अभयकुमार जान चुका है कि वह चोर है किन्तु इसको सिद्ध कैसे किया जाए ? इसके लिए उन्होंने एक योजना बनाई और रोहिणेय चोर को अपने घर पर भोजन के लिए बुलाया भोजन में उसे कुछ नशीले पदार्थ दिए गए जिससे उसको गहरी निद्रा आ गई। इस बीच ऐसा दृश्य बना दिया मानों देवलोक सुन्दर रमणियां विहार कर रही थीं और भावों से बता रही थीं कि अहो भद्रा, ... आपकी जय हो। आपकी विजय हो आपने मनुष्यलोक में क्या दान दिया है, क्या परोपकार किया है, पुण्य का काम किया हैं, जिससे आप देव–लोक में जन्म लेने के अधिकारी बने है। यह सारा नाटक था, षड्यंत्र था क्योंकि अभयकुमार चाहता था कि रोहिणेय चोर को चक्रव्यूह में फांस लिया जाए। रोहिणेय चोर एक बार तो अपनी बात उगलने के लिए तैयार हो गया किन्तु सहसा उसे महावीर की वह वाणी स्मरण में आ गई जो नहीं सुनने के भाव से भी उसके कान में पड़ गई थी और जिस पर वह विश्वास नहीं करता था। महावीर ने यह कहा था कि देवता की आंखों की पलकें नहीं झपकती हैं पर इनकी आंखों की पलकें झपक रही थीं, पुतलियाँ घूम रही थी। बुद्धिमान तो वह भी था, उसको गंध आ गई कि कहीं न कहीं षड्यंत्र है, मुझे फंसाने का प्रयत्न किया जा रहा है। फिर देखा कि उनके पैर जमीन पर थे। उसने सोचा भगवान् महावीर ने कहा था, देवाताओं के पैर जमीन पर नहीं रहते हैं, जमीन पर नहीं पड़ते है और उनके गले की मालाएं कभी कुम्हलाती नहीं हैं। इन सारी अवस्थाओं को देखकर वह चौकन्ना हो गया। उसने कहा–हां मैंने खूब दान दिया, खूब धर्मस्थल बनवाये, खूब धर्मशालाएं बनवाई, खूब अस्पताल बनवाये और इस प्रकार धर्म की महिमा बखानी।

बंधुओं कहने का आशय यह है कि रोहिणेय चोर ने भगवान् महावीर की वाणी को केवल सुना था। विश्वास नहीं किया। परन्तु जब उसके सामने ऐसा प्रसंग आ गया तो उसका विश्वास हो गया कि नहीं, भले ही मेरे पिता ने कुछ भी कहा हो, भले ही मेरे पिता ने कह दिया हो कि महावीर भगवान् की वाणी नहीं सुनना, किन्तु आज भगवान् महावीर की वाणी ने ही मुझे बचा लिया है।

अब विचार किजिये कि यदि हमारी अवस्था अटक जाए और यदि धर्म ऐसी अवस्था में कारगर हो जाय तो व्यक्ति धर्म को नमस्कार करने लग जाएगा या नहीं ? अन्यथा हमारी अवस्था भी रोहिणेय चोर जैसी हो सकती है, हम सुन जरूर लेते हैं किन्तु विश्वास उतना नहीं हो पाता है। और यदि हमारे जीवन में कोई घटना घट जाए, यदि हम दुविधा में हों और

तव कोई ऐसी वात ध्यान आ जाय और सारी दुविधाएं दूर हो जायं तो उस चमत्कार को हम नमस्कार करने लग जाएंगे। ऐसी स्थिति में हम धर्म पर दृढ़ आस्था करने की स्थिति में आ जाते हैं और यदि वैसी स्थिति नहीं आती है तो कभी–कभी हमारा धर्म से विश्वास भी उठ जाता है।

एक वार एक श्रावक, जो जाति का व्राह्मण था और 12 व्रतों की आराधना करके चल रहा था उसके सामने ऐसा कोई प्रसंग आ गया कि उसने अपने लड़के को दांव पर लगा दिया। कह दिया कि यदि मेरा कोई दोष हो तो लड़के की यह स्थिति वन जाए। संयोग की वात, सम्यक्–दृष्टि देव उधर से निकले और उस वालक को वचा लिया, किन्तु फिर उन देवों ने उनसे कहा कि भाई, ऐसा कभी नहीं करना चाहिए। यह तो उधर से हम लोग निकल रहे थे तो यह स्थिति वन गई और तुम्हारा लड़का वच गया। अन्यथा यदि स्थिति नहीं वनती और तुम्हारे लड़के को कुछ हो जाता तो दुनिया में धर्म की हंसाई हो जाती। अतः यह वात समझ लें सभी समय एक समान नहीं होते हैं। सभी समय देवता इधर–उधर परिभ्रमण नहीं करते रहते हैं। सभी समय हमारा टेलीफोन देवताओं तक नहीं पहुंच पाता है। किसी दिन कर्मों का योग वन सकता है। वैसी स्थिति में देवों तक वात नहीं पहुंचे तो क्या स्थिति बन जाती है, इस पर भी विचार करें। ऐसे समय में धर्म वदनाम हो सकता है। तव उस भाई को यह समझ में आया कि मुझे इस प्रकार का दांव नहीं खेलना चाहिए था। वंधुओ इसलिए धर्म के स्वरूप को वड़ी वारीकी से समझने की आवश्यकता है। ऐसा नहीं कि यदि कोई चमत्कार घटित न हो तो समझ लें कि यह कैसा धर्म है इससे तो कोई फायदा ही नहीं हुआ, इससे तो कोई चमत्कार नहीं घटा तो यह गलत है। धर्म कोई जादूगर नहीं है या जादू का खेल नहीं है कि छड़ी घुमाओ और काम हो जाय। आप धर्म की आराधना करते रहिए। यदि कर्मो का अन्तराय कर्मो का योग, जुड़ा हुआ है तो ऐसा हो सकता है कि धर्म की आराधना करते समय भी, कभी–कभी आपके अंतराय के कारण से आपके दुख–दर्द दूर नहीं हों, चमत्कार घटित नहीं हों किन्तु जिस दिन भी अंतराय कर्म का वंधन या अंतराय कर्म का संयोग हटेगा तो दूध का दूध और पानी का पानी हो जाएगा।

महासती अंजना चली गई जंगलो में, किन्तु वाद में पवनजी अपने घर पहुंचे और उन्होंने जव पूछा कि अंजना कहां है तो माताजी के पैरों की जमीन खिसकने लग गई। उन्हे ध्यान आया कि यह तो कभी अंजना का नाम लेना भी पसद नही करता था, नाम लेना तो दूर, नाम किसी से

सुनना भी पसंद नहीं था इसके सामने यदि कोई अंजना का नाम भी लेता था तो यह गुस्सा हो जाता था, अंजना को देखने की बात तो दूर, आज यह स्वयं अंजना के विषय में पूछ रहा है। बात क्या है ? कहा–बेटा क्या करेगा उसका नाम लेकर, वह तो कुलक्षिणी थी, उसने तो कुल के नाम पर लांछन लगा दिया। तब पवनजी ने कहा कि माताजी, आप क्या बोल रही हैं ? उन्होंने सोचा कि अंजना जैसी सती के विषय में माता ने यह बात क्यों कही ? तो पवनजी ने कहा–माता, वह अपराधिनी नहीं है। यदि आप किसी को अपराधी मानती हैं तो वह मैं हूं। अंजना ने तो कहा था कि आप माताजी से मिलकर जाइये, किन्तु मुझे जल्दी थी, लेकिन उसने मेरे नाम की अंगूठी तो बतलाई होगी ? माता ने कहा कि बतायी तो थी लेकिन हमें विश्वास नहीं हुआ, हमने विश्वास नहीं किया। आप देखिये कि उस समय अंजना को धक्के खाने पड़े। आज हमारे साथ में ऐसा हो जाए तो क्या हमें हमारे धर्म पर हमारे चरित्र पर विश्वास हो पाएगा। पर अंजना ने नहीं सोचा कि यह क्या ? जब मैं सती हूं। मेरे साथ सत्य है तो फिर मेरे साथ व्यवहार क्यों ? तो समझ लीजिये कि अनास्था रखने वाले व्यक्तियों के जीवन में धर्म सही प्रकार से वास नहीं करता है। धर्म के लिए सरलता चाहिए, धर्म के लिए धैर्य चाहिए। सरलता के साथ में धैर्य नहीं हो तो धर्म टिक नहीं पायेगा। यदि सरलता के साथ में धैय है तो कोई भी अवस्था आ जाए वह डिगेगा नहीं, यह कैसे समझ लेना चाहिए वस्तुतः ऐसा ही व्यक्ति धर्म का पात्र है और धर्म भी उसमें रहता है। धैर्य के बिना धर्म कहां। कहा भी है धीरज धर्म मित्र अरुनारी आपतकाल परखिये चारी। धर्म की परीक्षा ही आपत्तिकाल में होती है। जो व्यक्ति धर्म के साथ दृढ़ता से चलता है तो आज नहीं तो कल उसमें धर्म की चमक आ जाती है। नहीं तो कह देंगे कि कैसा राजा हरिश्चन्द्र है ? क्या पड़ा है उस सत्य में जिस सत्य की आड़ में सत्य के नाम पर चाण्डाल के घर में रहना पड़ा ? वह तो कसौटी थी। सोना जब तक कसौटी पर परखा नहीं जाता तब तक वह सच्चा है, इसका क्या पता ? इसलिए धर्म को परीक्षा और आचरण की कसौटी पर परखा जाए। अनेक प्रकार की कसौटियां हमारे सामने आ सकती हैं और तब यदि हम धैर्यवान रहें तो हम धर्म को निखारने वाले हो जाएंगे अन्यथा अपने चंचल स्वभाव से हम को भी बदनाम करने की स्थिति में आ सकते हैं और धर्म भी ऐसे धैर्यहीन पात्रों के कारण कभी–कभी बदनामी की स्थिति में आ सकता है। यथार्थ में धर्म अपने आप में धर्म हैं जैसे अमृत अपने आप में अमृत है चाहे उसमें कोई जहर भी मिला दें पर वह अपनी प्रकृति नहीं वदलेगा। वैसे

ही धर्म अपने आप में धर्म है लेकिन पात्र में कोई गड़वडी हो तो वहाँ गडवड़ी उपस्थित हो सकती है किन्तु धर्म में गड़वड़ी नहीं है।

इस प्रकार रोहिणेय चोर के भगवान् की वाणी का अंश मात्र सुनने से उसके जीवन की रक्षा हो पाई। तव उसे विश्वास हो गया कि भगवान् की वाणी सत्य है। उसके सामने ऐसी घटना घट गयी तो सत्य मान लिया। आप भी चाहेंगे कि हमारे जीवन में भी ऐसा चमत्कार हो जाए। कई वार चमत्कार हो भी जाते हैं किन्तु हम फिर दूसरे में उलझ जाते हैं, फिर तीसरे में उलझ जाते हैं। वार–वार चमत्कार घट भी सकते किंतु उनके आधार पर हम धर्म को नहीं परखें। यदि आप धर्म में दृढ़ विश्वास करते हैं और उसके अनुरूप आपका जीवन व्यवहार होता है तो आप देखेंगे कि जीवन का पूरा ढांचा परिवर्तित हो जाता है। रोहिणेय चोर को विश्वास नहीं था, परन्तु उसे विश्वास करना पड़ा कि महावीर की वाणी जीवन का कल्याण करने वाली है।

वंधुओं, हम भी चिंतन करें, हम भगवान् महावीर की वाणी को सुन रहे हैं, प्रभु महावीर ने हम से कहा है कि कषाय, राग–द्वेष आदि संसार में उलझाने वाले हैं। मनुष्य तन ही ऐसा है, पूरी सृष्टि में यह मनुष्य जीवन ही ऐसा है कि इस मनुष्य तन में रहकर ही धर्म की पूर्ण आराधना की जा सकती है, धर्म को अपने जीवन में स्थान दिया जा सकता है। इस मनुष्य तन को भी यदि हार गए तो फिर क्या हाथ में रहेगा ? फिर तो रोने के अलावा हमारे हाथ में कुछ नहीं रह जाएगा। इसलिए ज्ञानीजन कहते हैं कि जव तक वुढ़ापे की स्थिति नहीं आ जाए, जव तक वुढ़ापा हमको परेशान नहीं करे, जव तक व्याधि न आ गई हो, जव तक इन्द्रियां प्रखर हैं, धर्म की आराधना करने वाला यदि ऐसे समय में धर्म की आराधना कर लेता है तो जीवन श्रेष्ठ वन सकता है। यदि समय निकल जाएगा तो फिर हाथ में क्या रहने वाला है ? इसलिए चिंतन–मनन करें और इस मनुष्य तन में रहते हुए सम्यक् प्रकार से धर्म–आराधना करके, तीर्थंकर देवों की वाणी का आराधना करके इस जीवन को मंगलमय वना लें, इसी में इस जीवन की सार्थकता है।

☆☆☆

4.9.2000

निन्दा विरला करि सकै

बंधुओं ! लगभग प्रत्येक व्यक्ति दिन–भर में अनेक लोगों के बारे में विचार करता है और उनके बारे में धारणाएं बनाता रहता है जैसे–अमुक व्यक्ति अच्छा है, अमुक व्यक्ति में अमुक दुर्गुण हैं; वह निठल्ला बैठा रहता है, अमुक व्यक्ति बहुत वाचाल है, अमुक व्यक्ति नींद निकालता रहता है, अमुक व्यक्ति ठगने में बहुत माहिर है आदि। दिन–भर में ऐसी न जाने कितनी विचारणाएं मनुष्य कर लेता हैं। कोई विरला पुरुष ही भले बच जाय किन्तु सामान्यताः सभी लोग किसी व्यक्ति या वस्तु के संबंध में इस प्रकार की विचारणाएँ करते रहते हैं। तीर्थंकर देवों ने हमारे सामने इस संदर्भ में भी स्पष्ट मत व्यक्त किया है कि दूसरों की निंदा करना, अथवा दूसरों के दुर्गुणों का प्रकटीकरण करना, यह व्यक्ति की पीठ का मांस खाने के समान है–"पिट्ठिमंस न खाइज्जा" की क्योंकि निंदा कभी भी व्यक्ति के सामने नहीं की जाती। निंदा उस व्यक्ति की जाती है जो व्यक्ति हमारे सामने नहीं है। जो तीसरा व्यक्ति है उसके सामने निंदा की जा सकती है या अपने मन में की जा सकती है किन्तु जिस व्यक्ति के विषय में कुछ कहना है उसके सम्मुख तो कुछ नहीं कहा जाता। कभी–कभी तो अत्यंत विचित्र स्थिति होती है। मनुष्य जिस व्यक्ति के संदर्भ के तीसरे व्यक्ति के समक्ष निंदा की कुछ बात कहते हैं–ठीक उससे विपरीत बात उसी निंदित व्यक्ति के सन्मुख वह कहने लगता है। तब वह उस निन्दित की प्रशंसा करने लग जाता है। परन्तु जैसे ही वह आंखों से ओझल होता है, झट फिर उसकी निंदा करने लग जाता है। प्रभु ने स्पष्ट कहा है कि यह मार्ग व्यक्ति को पतन की ओर ले जाने वाला है। पर प्रभु महावीर एवं तीर्थंकर देवों ने यह भी कहा है कि यदि मनुष्य इस प्रवत्ति को थोड़ा–सा मोड़ दे दें तो जो गर्त में जाने वाला

है वह ऊपर उठ सकता है। प्रभु ने कहा– "दूसरों की नहीं, स्वयं की निंदा करो"।

यहां पर भी हमारे सामने यह प्रश्न खड़ा होता है कि स्वयं की निंदा भी क्यों करें ? आज का मनोविज्ञान यह भी कहता है कि एक व्यक्ति यदि निरंतर हीन विचारों में पड़ा रहता है, सोचता रहता है कि मैं तो पापी हूं, मैं तो कपटी हूँ, मैं तो निर्दयी हूँ ऐसे न जाने कितने–कितने हीन विचारों से यदि वह ग्रसित हो जाता है, तो ऐसा व्यक्ति अपना उत्थान नहीं कर पायेगा। ऐसा व्यक्ति हीन भावना और अपराध बोध से ग्रस्त होने के कारण अवसादों से घिरा रहेगा और उत्साहहीन होकर कर्तव्य मार्ग से विमुख हो जायेगा। ऐसा व्यक्ति समाज के लिये और स्वयं के लिये भी बोझ बन जायेगा। प्रश्न उठता है कि फिर आत्मनिंदा कैसे की जाय और क्यों की जाय ? इस प्रश्न के उत्तर के लिये हम सूत्र को उठा कर देखें। भगवान महावीर से प्रश्न पूछा गया– 'णिंदणयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ !" निंदा करने से जीव को किस फल की प्राप्ति होती है ? भगवान ने उत्तर दिया कि "पच्छाणुतावे जणयइ।" आत्मनिंदा करने से पश्चात्ताप की भावना जगती है। वस्तुतः हमें भी बहुत बारीकी से अध्ययन करना है कि कोई व्यक्ति आत्मनिंदा किसलिए करता है ? आत्मनिंदा इसलिए करता है कि उसकी आत्मनिंदा सुन कर दूसरे लोगों की सहानुभूति उसे प्राप्त हो और वे उसकी प्रशंसा करने लगें। वह समझता है कि अगर मैं आत्मनिंदा करूंगा तो लोग कहेंगे कि देखो, कितना सरल स्वभावी है, अपनी निंदा भी अपने मुंह से करता हैं ! कितना आत्मार्थी है ! अपने संबंध में 'आत्मार्थी', 'कैसा सरल है' जैसे उद्‌गार सुनकर वह अंदर ही अंदर प्रफुल्लित होता है। क्या यह बात सही है ? इस पर भी विचार करना है। हीन भावना के लिए आत्मनिंदा की बात नहीं है। और आत्मनिंदा करने के बाद हीन भावना हमारे भीतर प्रकट नहीं होती है या यों कहे कि हम निरंतर हीन–भावना से ग्रसित नहीं होते हैं।

निंदा करना मामूली बात नहीं है, यहॉ निन्दा करने का मतलब आत्मनिंदा, से है। पर की निंदा करना तो बहुत सरल काम हैं किन्तु आत्मनिंदा, और वह आत्मनिंदा भी इस रूप में कि जिसके पीछे ऐसे भाव नही हों कि लोग मेरी आत्मनिंदा को सुनकर मेरी प्रशंसा करें, मामूली बात नही है। महाभारत की घटना से आप परिचित हे। धृतराष्ट्र अन्तर से यह चाहते थे कि कौरवों को राज्य मिले और पांडवों का नाश हो जाय। इसलिये जिस समय भीम को विष दिया गया और पांडवो को समाप्त करने के लिए

लाक्षागृह का निर्माण किया गया और जब उसका भंडाफोड़ हो गया तब केवल औपचारिक रूप से कि द्रोणाचार्य, भीष्म आदि की निगाहों में वे गिर न जाए इसलिए मुझे भी कौरवों की निंदा करनी चाहिए यह सोचकर उन्होंने कौरवों की निंदा की किन्तु वह भी एक पॉलिसी थी। बहुत-से व्यक्ति ऐसी पॉलिसी से चलते हैं, मन में पाप करते रहेंगे, काया से भी पाप करते रहेंगे किन्तु वचन का पलस्तर इस प्रकार से लगाने का प्रयास करेंगे जिससे कोई भी उस प्लस्तर के भीतर झांक कर देख नहीं सके। दीवार कैसी है, इसमें ईंट लगाई है या पत्थर लगाये, ऊपर पलस्तर कर दो उसके बाद में अन्दर सीमेंट कितनी लगाई है यह कौन देखेगा ? जब ईंट से ईंट की चुनाई की गई, तब उसमें सीमेंट लगी या नहीं लगी, इससे कोई मतलब नहीं है पर पलस्तर बढ़िया कर दिया जाय और अन्दर जो कुछ भी नुक्स है वह नुक्स रहने दिया तो क्या फर्क पड़ता है ? वैसे ही हम अन्तर में क्या भाव रखते हैं उन्हें छिपाने के लिये तथा ऊपर से अपने नुक्स को दबाने के लिए वचन का पलस्तर कर देते हैं। किन्तु ऐसा होना नहीं चाहिए क्योंकि यह आत्म निंदा नहीं है। आत्मनिंदा के लिए भगवान महावीर कहते हैं कि यथार्थ में आत्मनिंदा वह है जिससे व्यक्ति के अंतर में अनुताप हो, पश्चात्ताप हो। और वह अंदर से उद्वेलित होकर सोचे-ओहो ! मेरी आत्मा ने कैसे-कैसे कृत्य किए हैं ! और जो मैं बोल रहा हूं कहीं उससे विपरीत तो मेरा आचरण नहीं है ? इस प्रकार से आत्मनिंदा के माध्यम से यदि अन्तर में पश्चात्ताप जाग्रत हो जाता है तो वस्तुतः वह आत्मनिंदा की श्रेणी में आता है। और ऐसा पश्चात्ताप व्यक्ति को संसार में तिराने वाला होता है। ऐसा पश्चाताप करने वाले के मन में संसार से अरुचि होती है, वैराग्य भाव का जागरण होता है। वह सोचता है, इस संसार में देखो, मैं स्वार्थ के वशीभूत होकर कैसे-कैसे कृत्य कर चुका हूँ और न जाने संसार में रहते हुए मैं और केसै-कैसे कृत्य कर जाऊंगा। वह आत्मावलोकन करता है और इस स्थिति पर खेद करता है कि संसार की दशा ऐसी क्यों है, जहाँ अपनी पोजीशन को देखना पड़ता है, जहाँ अपनी प्रतिष्ठा का ध्यान रखता पड़ता है और उस पोजीशन एवं प्रतिष्ठा के पीछे न जाने कैसे-कैसे कुकृत्य करने पड़ जाते है।

इसलिये बंधुओं, गहराई से चिंतन करने की आवश्यकता है। जैसे धृतराष्ट्र अपने-आप में आत्मनिंदा करता है किन्तु वह आत्मनिंदा किसलिए कि लोग यह नहीं जानें कि धृतराष्ट्र भी कौरवों के साथ मिला हुआ है ! किन्तु धृतराष्ट्र यह दिखाता है कि मेरे मन में दोनों के प्रति समान भाव हैं, मैं समभावी हूँ। चाहे कौरव हो चाहे पांडव हो, दोनों के प्रति मेरे मन में मेरा

और तुम्हारे का भाव नहीं हैं, पर अंतर में क्या था ? अंतर में तो चाह यही थी कि कौरवों को राज्य मिल जाए। और ये पांडव इनकी शक्ति वढती जा रही हैं, ये कौरवों के लिए कांटा है और यह कांटा जव तक रहेगा, कौरव सही ढंग से राज्य नहीं कर पायेंगे इसलिए कौरवों को निष्टकंटक करना हे तो येन–केन–प्रकरेण पांडवों का नाश हो जाता है, (पांडव यदि समाप्त हो जाते हैं) तो मेरे पुत्र तथा मेरा वंश निर्द्वन्द्व रूप से राज कर सकते हैं। इस प्रकार से उनकी यह विचारधारा एक प्रकार से पूरे कौरव वंश के लिए दुःखदायी वनी। वाद में भले ही धृतराष्ट्र कितनी ही दुविधा में रहे, मन ही मन कितना ही पश्चात्ताप करे, किन्तु जो घटना घट चुकी, वह तो वापस वदलने वाली नहीं, वैसे ही हमें चिंतन करने की आवश्यकता है। वस्तुतः जव व्यक्ति में अनुताप का जागरण होता है तभी आत्मनिंदा की स्थिति वनती है। व्यक्ति में जव पश्चात्ताप की आग सुलगती है तो पश्चात्ताप की वह आग स्वतः ही व्यक्ति में रहे हुए कर्म, कल्मष को जलाती हुई चली जाती है। जैसे स्वर्ण को शुद्ध करना हो तो उसे आग में तपाना होता है। वैसे ही आत्मा को यदि शुद्ध करना हो तो पश्चात्ताप की आग में इसे तपाना होगा ओर पश्चात्ताप की आग में जव वह तपेगा तव उसके सारे कर्म अपने–आप समाप्त हो जायेंगे।

आप युवा मुनि की उस कथा से परिचित होंगे जिसमें वताया गया है कि कैसे उनके प्रभावी व्यक्तित्व से आकर्षित होकर एक वहिन ने भिक्षा वहराने के वहाने उनके सम्मुख अमर्यादित प्रस्ताव रखा तथा उसकी पूर्ति न होती देख, अपनी वदनामी के भय से उनके सिर पर डण्डा मारकर उनकी हत्या कर दी। कथा में यह भी वताया गया है कि कैसे उन मुनिराज की चिन्ता में व्यग्र संतों की कठोर तपश्चर्या ने उस वहिन का हृदय परिवर्तन कर दिया और निश्छल भाव से गुरु महाराज के सम्मुख उपस्थित होकर तथा वाद में भरी सभा में उपस्थित होकर उसने सव के सामने गर्हा और निन्दना द्वारा स्वयं के पाप की स्वीकृति कर पश्चात्ताप किया। चूँकि उसने इस कार्य द्वारा ऋजुभाव से तीनों शल्यों का उन्मूलन कर दिया था और सभी उपस्थित व्यक्तियों द्वारा उसके घोर पाप की निन्दा को भी उसने शांत भाव से सहा था इसलिये उसके घाती पर्यायों का क्षय हो गया था परिणामस्वरूप उसके द्वारा पहनी हुई काली साडी सफेद हो गई थी। निंदना मे रही कमी को उसने 'मिच्छामि दुक्कडं' वोल कर पूरा कर लिया था। उत्तराध्ययन सूत्र मे स्पष्ट कथन हे कि निन्दना से पश्चात्ताप होता है और पश्चात्ताप से विरक्त होता हुआ व्यक्ति 'करणगुणश्रेणि' को प्राप्त होता

है। ऐसा अनगार मोहनीय कर्मों का क्षय करता है (उत्तराध्ययन सूत्र 29–6)। जैसे गाय उस बहिन को नहीं निरखती, किन्तु उसकी दृष्टि अपने चारे पर बांटे पर रहती है वैसे ही पूज्य गुरूदेव फरमाया करते थे, कि मुनि को भी गाय के समान केवल चारे पर ही दृष्टि रखनी चाहिए यानि तो गोचरी का सामान पड़ा है, उस पर ही दृष्टि रहनी चाहिए वहीं तक उसका संवंध होना चाहिए। ये पदार्थ किसलिए बने हैं, क्यों बने हैं, उनकी ग्वेष्णा करना, बाकी उसके घर में क्या हैं, उससे साधु को कोई मतलब नहीं, कुछ लेना–देना नहीं। उसकी गवेष्णा करके वह अपनी ग्वेष्णा विधि, भिक्षाचर्या करके निकल सकता है। बहिन ने जिस तरह के हाव–भाव प्रदर्शित किये, मुनि उनसे निर्लिप्त रहे। उसके पश्चात् जब उस बहिन ने देखा कि उसके केवल हाव–भाव मुनि को प्रभावित नहीं कर रहे हैं तो वह दरवाजा रोककर खड़ी हो गई। जैसे ही मुनि भिक्षा लेकर जाने लगे, वह बोली मुनिराज यह क्या ? क्या यह जवानी, यह आपका रूप–लावण्य, यह मनुष्य का तन, क्या इसी प्रकार से भिक्षा के लिए परिभ्रमण करते हुए नष्ट करने का है ? इस जवानी का उपयोग होना चाहिए। मुनिराज ने संक्षिप्त रूप से बोध देने का प्रयत्न किया बोले–बहिन, ये बातें सुनना भी गलत है। बहिन ने देखा, मामला गड़बड़ हो गया। मेरे मुँह से बात भी निकली और बात निकलकर पूरी भी नहीं हुई और कहीं यह बात आगे बढ़ गई तो पता नहीं मेरी स्थिति क्या वन जायेगी। बहिन ने हाथ पकड़ने का प्रयत्न किया। मुनि दूर हो गये। वहिन ने डंडा उठाया और मुनिराज के सिर पर दे मारा जिससे मुनि के माथे की नस फट गई और मुनिराज का वहीं पर स्वर्गवास हो गया। उसने देखा, यह क्या हुआ, मामला गड़बड़ हो गया। अब हो गया वह तो हो गया। ऐसे व्यक्तियों की प्रतिक्रिया बहुत तेज होती है, बुद्धि भी तीव्रता से काम करती है। किन्तु याद रखिये कोई कितना ही चतुर क्यों न हो, चोर के पैर कच्चे होते हैं। वह कोई न कोई सुराग छोड़ देता है। रावण सीता को ले गया किन्तु कहीं न कहीं निशानी तो मिल ही गई। वैसी अवस्था वनी, वहिन ने तत्काल अपने घर में खड्डा खोदकर उसमें मुनि का मृत कलेवर डाल दिया और ऊपर से लीपापोती कर दी। इधर गुरु ने देखा, इतनी देर हो गई और मुनि भिक्षा से लौटकर आये नहीं। गुरु महाराज ने सोचा कि वात क्या है, संतो को भेजा। खोज की गई पर वे कहीं मिले ही नहीं । कहीं गांव छोड़कर तो जा नहीं सकते। वात श्रावकों को मालूम पड़ी। श्रावक खोजने लगे किन्तु मुनि नहीं मिले। मुनि रहे ही नहीं तो मिलते कहां से ? सवने तपस्या कर ली, जितने संत थे, सवने उपवास कर लिया। दूसरा

दिन भी खोज में निकला, वेला हो गया। तीसरा दिन भी निकल गया, तेला हो गया। पता नहीं, इस तपस्या का क्या प्रभाव पड़ा कि वहन का मन आत्मनिन्दा करने लगा–धिक्कार है कि तुम्हारे कारण से, तुम्हारे मोह के कारण और तुम्हारे अंतर की वासना के कारण एक मुनि की जीवन लीला समाप्त हो गई और सारे के सारे मुनिराज तपस्या में लगे हुए हैं, आहार नहीं ले पा रहे हैं धिक्कार है तुम्हारे कुकृत्य को वह सोचने लगी किसको कहूं, कैसे कहूं, क्या कुछ करूं ? कुछ करने के लिए भी हिम्मत कैसे होती ? काफी कुछ सोचने के वाद उसने निर्णय किया कि नहीं, यह वात तो मुझे प्रकट करनी ही होगी। वह गुरु महाराज के पास गई, एक भाई सामने खड़ा रहा। वहन ने गुरु महाराज से निवेदन किया कि भगवान मुझे आपसे कुछ निवेदन करना है। गुरु महाराज ने कहा कि वोलो, क्या वात हैं ? उसने कहा कि गुरुदेव मुझ से वहुत वड़ा दुष्कृत्य हो गया है, कुकृत्य हो गया है, मैं वड़ी पापिन हूं, मैं क्या कहूं भगवन, जिस शिष्य के पीछे आज आप तीन दिन से उपवास कर रहे हैं, उस शिष्य का घात करने वाली मैं आपके सम्मुख हूँ। मेरी वासना भड़क गई थी मैंने काम याचना की, पर आपके शिष्य मुनिराज उसके वाद भी निर्लिप्त रहे वे अपनी मुनि–भावना में, संयम की भावना में इतने रमे हुए थे कि उन्होंने मुझे धर्म उपदेश भी दिया, परन्तु वासना में अन्धी मेरी जैसी पापिन को वह उपदेश नहीं लगा। मैंने हाथ पकड़ने की महाकुचेष्टा की और मुनि पीछे हट गये। इस पर मैंने सोचा कि कहीं मेरा पाप प्रकट हो जाएगा और मैंने मुनि पर डण्डे से प्रहार कर दिया जिससे मुनिराज वही समाप्त हो गए !

गुरु महाराज ने कहा कि वहन, जो हो गया वह तो वदलने वाला नहीं है, मुझे खुशी इस वात की है कि मेरा संत अपने–आप में संयमी जीवन में मजवूत रहा, वह हिला नहीं, डिगा नहीं, अविचल रहा। उसने कहा कि गुरुदेव आप मुझे मेरे पाप से मुक्त कीजिए ! गुरुदेव ने पूछा कि क्या तू अपने सच्चे मन से पाप का प्रायश्चित्त करना चाहती है ? उसने कहा कि गुरुदेव मेरे अंतर में आग लगी हुई है जिसे मैं अव सहन नहीं कर पा रही हूँ। मुझे वडी घृणा हो रही है, आत्मग्लानि हो रही है पश्चात्ताप हो रहा है। गुरुदेव ने कहा कि तुम यह वात सभा के समक्ष प्रकट कर सकती हो ? उसने कहा कि आप चाहते है तो मैं सब कुछ करने को तैयार हूं। कहा जाता है कि दो दिन वाद संवत्सरी का प्रसंग था। गुरु महाराज ने कहा कि संवत्सरी के दिन उपस्थित रहना, सारा चतुर्विध [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] निर्धारित दिन [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]

कार्यक्रम चलने वाला था गुरू महाराज ने कहा कि यह बहन अपने कुछ भाव प्रकट करना चाहती है। और उस बहन ने आद्योपांत अपने सारे पाप को भरी जनता के सामने प्रकट कर दिया। इधर तो वह पाप प्रकट करती चली जा रही थी। उधर श्रोताओं के मन में उसके प्रति हीन भावना प्रकट हो रही थी। कैसी कुलक्षणी है। कैसी पापिन है न जाने कैसे–कैसे वचन लोगों के मुँह से प्रकट होने लगे थे, किन्तु उसकी स्वीकारोक्ति प्रभाव ऐसा बना कि उसकी काली साड़ी, सफेद होती चली गई, केवल दो दाग शेष रह गए, दो धब्बे रह गए। गुरु महाराज ने तभी कहा कि सभी व्यक्तियों में दो व्यक्ति ऐसे हैं, जिन्होंने इस बहन के पाप की निंदा नहीं की है। दो व्यक्ति, दो श्रावक ऐसे हैं जिन्होंने इसके पाप पर लांछन नहीं लगाया है। इस बहन को दो अपशब्द उन्होंने नहीं कहे हैं। सबने पापी कहा है इसलिये सारी चद्दर धुल गई, दो ने नहीं कहा इसलिए दो दाग रह गए हैं। कौन हैं दो व्यक्ति ? दो व्यक्ति खड़े हो गए। पूछा कि आपने निंदा क्यों नहीं की ? उन्होंने कहा कि गुरुदेव क्या निंदा करें ? इस बहन के साहस को देखकर हम खुद अपने–आप में दबे रह गए हैं कि हमने कितने कलुष कर्म किए हैं किन्तु आज समाज की जाजम पर हम बड़े सेठ बनकर शान से बैठते हैं। हमारी क्या स्थिति है, क्या पोजीशन है, यह तो हम अपने आप में जान रहे हैं। हम तो सोच रहे हैं कि यह कैसी वीर महिला है जो अपने पाप का भरी सभा में प्रक्षालन करने के लिए प्रस्तुत हुई है, इसलिए हम इसकी निन्दा नहीं कर सके। भरी सभा में दो व्यक्ति ही ऐसे थे जो उसके गुणों की प्रशंसा कर रहे थे बाकी सारे के सारे उसकी निंदा करने वाले थे। तब गुरु महाराज ने कहा कि बहन तू दो बार, मिच्छामि, टुक्कडं बोल। उसके दो बार वैसा कहते ही शेष रहे दोनों धब्बे भी साफ हो गये और उसकी पूरी साड़ी, सफेद हो गई !

बंधुओं, चाहे यह रूपक हो या घटना हो किन्तु इससे हमको बहुत बड़ा संदेश मिलता है, तथा प्रेरणा भी मिलती है। जब हम आलोचना–निन्दा के द्वारा अपने पाप को प्रकट करते हैं तब जैसे वह साड़ी काली से सफेद हो गई थी वैसे ही हमारी आत्मा भी पापों के मल से निर्मल हो जाती है। परन्तु चाहिए आत्मा में उत्कृट पश्चाताप् होना, चाहिए आत्मा की निंदा और निंदा करने का साहस। निंदा करने के पीछे हमारा यह भाव नहीं होना चाहिए कि हम ऐसा करेंगे तो लोग कहेंगे कि देखो साहब, इन्हें पश्चाताप है। वैसा भाव रखना कपट–क्रिया होगी। ऐसी कपट–क्रिया निंदा कहीं हमारी आत्मा को और कर्मबंध करवाने और काली बनाने में सहायक वन जाएगी।

शुद्ध आत्मभाव से आत्मनिंदा करने पर चित्त प्रशान्त हो जाता है। चित्त की शान्ति से प्रकंपन मन्द होते हैं। डोलायमन अवस्था समाप्त होती है तथा मन, वाणी एवं काया की एकरूपता प्रादुर्भूत होती है। यह निश्चित है कि जब तक मन, वचन काया की एकरूपता नहीं बनेगी, काया की दृढ़ता नहीं बनेगी, मन एकाकार नहीं बनेगा और इधर से उधर यदि डोलता रहेगा तो चाहे हम कितनी ही साधना करते रहें, कितने ही व्याख्यान सुनते रहें, हमारी साधना अपना रंग नहीं दिखा पायेगी क्योंकि रंग हमने लगने ही नहीं दिया। ज्ञाताधर्म कथांग में बताया गया हैं कि दो मित्र मोर के अंडे ले जाते हैं। एक मित्र के घर में तो अंडे से मोर निकला, दूसरे मित्र के घर मोर नहीं निकला। कारण यह था कि दूसरा व्यक्ति रोज अण्डा हिला–हिला कर देखता था, कि कहीं इसमें से जीव समाप्त तो नहीं हो गया। रोज हिलाये जाने वाले अंडे में से मोर निकला ही नहीं और जिसने अंडा ले जाकर रख दिया था, थोड़ा धैर्य रखा था, दृढ़ता रखी थी और अंडा बार–बार हिलाया नहीं था, उसके अंडे में से मोर निकला विचार कीजिये कि हमारे अंडे में से क्या निकलेगा ? अंडा मतलब हमारी साधना में से क्या निकलेगा जिसके लिए रोज हिला–हिला कर देख रहे हैं। जब तक हमारा मन, वचन, काया हिलती रहेगी, हमारे भीतर के अध्यवसाय झूलते रहेंगे, तब तक साधना का रंग नहीं आ पायेगा, साधना रंगीली नहीं बन पाएगी और वह साधना केवल हमें थोड़ी औपचारिक शांति देने वाली बन सकती है किन्तु अखण्ड शांति देने वाली यह साधना नहीं बन सकती !

बंधुओं साधना में रंग लाकर पाप समाप्त करने के अनेक तरीके भगवान् महावीर ने बताए हैं, बशर्ते कि अंतर में साहस जगे। जैसे किडनी का फंक्शन यदि बराबर होता रहता है तो खून भी साफ होता रहता है। खून की सफाई के साथ खून में पानी की मात्रा और दूसरे तत्त्वों की मात्रा, यूरिया वगैरह संतुलित रहता है तथा हम जितने पदार्थ खाते हैं वे अलग अलग रुप में परिणित होते हैं। कई पदार्थ शरीर को पुष्ट बनाने के काम में आते हैं तो कई पदार्थ जहर भी होते है, यदि हमारे खाद्य पदार्थो में जहर तत्व की मात्रा अधिक हो जाती है परन्तु यदि किडनी सही काम करती रहती है तो वह जहरों को साफ करती रहती हैं, जिससे खून में वे अधिक मात्रा मे नही रह पाते किन्तु यदि किडनी ठीक तरह से काम नहीं करे, गुर्दे फेल हो जाएं तो जहर शुद्ध नहीं हो पाता है और हमारे खून में घुल जाता है। खून मे घुलकर जहर पूरे शरीर को रुग्ण करने की स्थिति में आ जाता है। इसलिए किडनी को सुरक्षित और सही रखने का प्रयत्न किया जाता है।

मान लीजिए कि किसी ने जहर खा लिया नींद की गोलियां अधिक मात्रा में खा लीं, सर्प में उसे डस लिया तो किडनी यदि सक्षम होगी, सही होगी तो वह उस जहर को साफ कर देगी नहीं तो किडनी ठप्प पड़ जाएगी। ऐसे समय में डॉक्टर किडनी को पुनः संचालित करने का प्रयत्न करते हैं। यदि वह संचालित हो जाती है तो भीतर के जहर को साफ करके, छान करके अलग करके, पैशाब के माध्यम से बाहर निकालने की कोशिश करती है। जैसे किडनी सुचारु रूप से काम करती है तो यह स्थिति बनती है वैसे ही हमारे भीतर भी जहर पैदा हो जाता है, आत्मनिन्दा हमारी किडनी है, यदि उसके द्वारा हम अपने आत्मतेज को जाग्रत कर लें तो हमारे भीतर की क्रिया आत्मा की क्रिया ऐसी चलेगी कि अंतर के सारे जहर को निकालकर बाहर डाल देगी। जब सारा जहर निकल जाएगा तो परम–तत्त्व शेष रह जाएगा। यही तो आवश्यक है।

बंधुओं, हम निन्दा के माध्यम से अपनी आत्मा को साफ करते हैं, जैसे डॉक्टर तत्काल एंटीबायटिक और ग्लूकोज के माध्यम से किडनी की व्यवस्था ठीक कर उसे सक्रिय बना देते हैं, उसी तरह से निन्दा भी आत्म–शुद्धि का एक सशक्त माध्यम है। हमारे अंतर की सारी प्रक्रिया को सरल बनाने हेतु यदि हम उसकी भूमिका को जान गये तो कर्म–निर्जरा आगे बढ़ जाएगी और आत्मसिद्धि के क्षेत्र में हमारी गति हो पाएगी। इसलिये आवश्यक है कि हम आलोचना को, निन्दा को तथा इनके स्वरूप को जानें उनके स्वरूप को जानकर जब हम आत्मशुद्धि के क्षेत्र में बढ़ेंगे तो हमारा जीवन मंगलमय होगा !

☆☆☆

5.9.2000

निन्दारस को क्या कहें ?

कर्मों का राजा मोह कहलाता है और यदि मोह को पछाड़ दिया जाय तो दूसरे कर्मों को पछाड़ने में, दूसरे कर्मों को हराने में जोर नहीं लगाना पड़ता। सम्राट के परास्त होते ही सेना अपने–आप परास्त हो जाती है। राजा के हार जाने पर या मर जाने पर सेना युद्ध के लिए उद्यत नहीं रहती। तब प्रश्न यह है कि मोह को कैसे परास्त किया जाय ? मोह कर्म को कैसे दूर किया जाए, मोहकर्म को कैसे हटाया जाय ? इस संदर्भ में भगवान् महावीर की वाणी पर विचार करें।

प्रभु महावीर कहते हैं कि यदि आत्मनिंदा की जाए ,तो उससे मोहकर्म पर विजय प्राप्त होती है, मोहकर्म को समाप्त किया जा सकता है। सीधे तो नहीं, किन्तु आत्मनिन्दा से पश्चात्ताप और पश्चात्ताप से वैराग्य भाव उत्पन्न होगा तब आएगा विचार कि संसार में क्या रखा है ? क्या धरा है ? हम केवल आसक्ति के कारण इस संसार को महत्त्व दे रहे हैं। हमारा चश्मा बदला नहीं है और जैसे ही चश्मा बदलेगा, सारी रचना बदली हुई नजर आएगी। उसके आगे बतलाया गया कि जैसे ही वैराग्य के भाव बढ़ते हैं, वह आत्मा क्षपक श्रेणी को प्राप्त करती है। यह जैन सिद्धान्त का परिभाषिक शब्द है–क्षपक श्रेणी। इसे समझना आवश्यक है। जितने कर्म एक अज्ञानी व्यक्ति करोड़ भवों में भी नहीं नष्ट कर पाता है सम्यक् दृष्टि उसको एक श्वासोच्छ्वास में समाप्त कर सकता है किन्तु वह क्षपक श्रेणी के माध्यम से समाप्त होता है वह श्रेणी इस प्रकार की है कि उसमें अध्यवसाय निर्मल हो जाते हैं, अपूर्व अवस्था बन जाती है और निरन्तर कर्मों को समाप्त करने में अध्यवसाय तत्पर हो जाते हैं। क्षपक श्रेणी के माध्यम से जब वह आत्मा मोह कर्म के दलिकों को समाप्त करने में तत्पर होती है और जब मोह कर्म

समाप्त हो जाता है तब फिर आत्मा को मुक्त होने में कहीं कोई देर नहीं लगती क्योंकि मोह कर्म का श्रेय हो जाने से ज्ञानावरणीय दर्शनावरणीय एवं अन्तराय, ये तीनों कर्म युगपत् क्षणि हो जाते हैं। उसके पश्चात् केवल अघाती कर्म रह जाते हैं जिनको समाप्त होने में कोई देर नहीं लगती। मान लो देर भी लगती है तो भी वे आत्मिक विकास में बाधा नहीं पहुंचाते।

यद्यपि आत्मनिंदा अपने-आप में मुक्ति तक पहुंचने में माध्यम बनती है किन्तु एक बड़ी विचित्र स्थिति भी है। कल्पना कीजिये कि एक तरफ पूरे पकवान, मिठाई आदि थाल में परोसी हुई पड़ी हैं और दूसरी तरफ गधे की लीद, विष्ठा आदि पड़ी हुई हैं तो व्यक्ति किसे खाने के लिए तत्पर हो जाएगा ? आप कहेंगे--कौन ऐसा मूर्ख होगा जो षट्रस भोजन से भरे हुए थाल को ठोकर मारकर विष्ठा के लिए तत्पर होगा। उत्तराध्ययन सूत्र में बताया गया है कि किसी महारानी ने एक सद्यःजात सूअर के बच्चे को अर्थात् जो अभी जन्मा था ऐसे सूअर के बच्चे को अपने महलों में मंगवा लिया और उसका लालन--पालन करने लगी। उसके सामने वह स्वादिष्ट बासमती चावल परोसकर रखती थी। एक बार किसी राजकुमार ने विष्ठा कर दी तो वह सूअर का बच्चा चावलों के थाल को छोड़कर उस विष्ठा की तरफ दौड़ा। यह रूपक है जिसके माध्यम से बताया गया है कि ऐसे ही अज्ञानी व्यक्ति विनय रूपी बासमती चावल के थाल को छोड़कर अविनय रूपी विष्ठा की तरफ दौड़ने लगते हैं। बंधुओं, इसी बात को हम यहां आत्मनिंदा और पर-निंदा के रूप में ले सकते हैं। आत्मनिंदा करने वाला जहां षट्रस भोजन का स्वाद लेने वाला बन सकता है षट्रस भोजन से स्वयं को तृप्त करने वाला हो सकता हैं वहीं पर निन्दा में रस लेने वाला आत्मा एक प्रकार से उस षट्रस भोजन को लात मारकर विष्ठा की तरफ दौड़ने की तैयारी करता है। इसलिए ज्ञानीजन कहते हैं कि पर-निन्दा में रस नहीं लेना चाहिए। पर निन्दा करना जितना बुरा है उतना ही पर-निन्दा को सुनना भी बुरा है। कोई कहता है-महाराज मैं निन्दा करता नहीं हूं किन्तु यदि उसके सामने कोई निन्दा करे और सुनने में उसे बड़ा रस आये तो समझिये कि पर-निन्दा के बीज उसके भीतर रहे हुए हैं !

पूज्य गुरुदेव का छत्तीसगढ़ में विचरण हो रहा था। एक गांव में आचार्य भगवन विराजे हुए थे। एक भाई आया, वंदना की, बैठ गया और कहने लगा, महाराज यहां के लोग बहुत पापी है, यहां के लोग अज्ञानी है। ये सब बकरे का मांस खाते है, मछली का मांस खाते हैं, मौका लगे तो गाय का मांस खाने से भी नहीं चूकते हैं। किन्तु मैं ब्राह्मण हूं, मैं बकरे का, गाय

का मांस नहीं खाता, मैं केवल कबूतर का मांस खाता हूं। देखिये, ऐसे–ऐसे पण्डित पुरुष भी होते हैं जो दूसरो का पापी और अज्ञानी और स्वयं को बड़ा ज्ञानवान साबित करते हैं और ज्ञानवान भी किस बलबूते पर कि कौए का, बकरे का या गाय का मांस नहीं खाते किन्तु वे तो केवल कबूतर का मांस खाते हैं। विचार कीजिये कि कबूतर का मांस खाकर भी अपने–आप को धर्मात्मा समझते हैं, ऊंचा समझते है। अगर एक जैन बच्चे के सामने वैसी बात कही जाती तो वह कहता कि तू क्या बात करता है कबूतर का मांस खाकर तू धर्मात्मा बन गया बड़ा हो गया ? हमारे यहां तो जन्म से ही किसी भी प्रकार के मांस को स्वीकार ही नहीं किया जाता है। कहने का आशय है कि वह व्यक्ति मांस खाकर भी स्वयं को स्तुत्य और दूसरों को निरनीय साबित करने की चेष्टा कर रहा था। निन्दा करने का यह भी एक तरीका है। कि वे दूसरे की निंदा सुनने में परहेज नहीं करते। जब निंदा करने से मुंह खराब होना मानते हैं तो करने से अपने मुंह को खराब होता है। वे दूसरे की निंदा सुनने से परहेज नहीं करते। जब निंदा करने से मुंह खराब होना मानते है तो किन्तु कुछ व्यक्ति किसी की निन्दा नहीं करते हैं निन्दा मानते है दूसरे की निंदा यदि सुनी जाती है तो कान भी खराब होता है। यदि कान को खराब कर लिया तो जीवन खराब हो जाएगा क्योंकि जीवन का महत्त्वपूर्ण अंग कान है। उनका कानों के द्वारा ही वीतराग वाणी सुनी जाती है तो उस वाणी के साथ में निंदा रूपी जहर नीचे उतरेगा क्योंकि तुम्हारे कान में निंदा के पुद्‌गल भरे हुए हैं, निंदा के, पूरे, के पूरे यूं कह दूं कि स्कंध, उनसे तुम्हारे कान अटे पड़े हैं, भरे पड़े हैं। तो इसलिए यदि कोई निंदा भी करता तो कह देना–भाई मैं निंदा सुनकर अपने कान को खराब नहीं करना चाहता। कोई ज्ञान की बात करनी हो तो यहां कीजिए, यह निंदा पुराण यहां खोलने की आवश्यकता नहीं है। ज्ञान की बात करोगे तो कल्याण होगा और निंदा की बात करोगे तो पतन होगा !

बंधुओं, जैन समाज बहुत ऊँचाइयों पर पहुँचा है तो ऊँचाइयों पर पहुंचने के बाद उतने ही पतन के गर्त में भी यदि गिरा है उसका कारण भी निंदा पुराण ही है। यदि जैनी एक यह संकल्प ही कर लें कि हम दूसरों की निंदा नहीं करेंगे और न ही निन्दा सुनेंगे तो देखिए, उसके बाद उनके जीवन का कितना रूपान्तरण होता है। साधना कर लेना, कोई बहुत बड़ी बात नहीं है, किन्तु निन्दा से अपने–आप को अछूत रख लेना बहुत कठिन है। कितने रख पाएंगे ? निन्दा एक मीठा जहर है। ऐसा मीठा जहर है और इतना स्वादिष्ट है कि इसके सामने बादाम का हलुआ, गुलाब जामुन या

जयपुर का मिश्रीमावा, सारे फीके हैं। उनसे तो कभी पेट भर भी जाए तो अरुचि भी हो जाए किन्तु निन्दा ऐसी मिठाई है कि इससे कभी पेट नहीं भरता न अरूचि ही होती है। चाहे पूरे दिन या रात जागरण कर लीजिए निन्दा की बात सुनते हैं तो नींद भी नहीं आएगी। निंदा के सामने नींद भी भाग जाती है और धर्म की बात करो तो नींद नहीं आती हो तो आने लग जाती है। इस निन्दा में क्या जाने कैसी मिठास है और उस मिठास का न जाने कैसा स्वाद है कि व्यक्ति सुनने के लिये तत्पर हो जाता है। कोई सुनने में रस लेने वाला होता है तो कोई निंदापुराण का वाचन करने में रस लेता है। निंदा की बात करने वाले भी निंदा की बात का ऐसे प्रस्तुतिकरण करेंगे कि सामने वाले सुन कर दंग रह जाएं। यदि उसी प्रकार से आत्म-विज्ञान को प्रस्तुत किया जाय या उतने ही समय का उपयोग यदि आत्म-निन्दा के लिए कर लिया जाय तो उतने ही समय में कल्याण हो सकता है। एक बार भी यदि हम सही तरीके से आत्मनिन्दा कर लें तो अनेक जन्मों के कर्मों को समाप्त करने में समर्थ हो सकते हैं ! किन्तु एक बार की गयी पर निन्दा कितने ही कर्मों का बंध कराने वाली बन जाती है और वे कर्म जन्मजन्मान्त तक उस व्यक्ति का पिण्ड नहीं छोड़ते हैं।

आत्मनिन्दा एक प्रकार का तप है। तप के अनेक प्रकार हैं। वैसे मोटे रूप में तो तप के बारह प्रकार हमारे सामने गिना दिये गये हैं, किन्तु एक --एक के तप की अनेक श्रेणियां बन जाएंगी, अनेक अध्यवसाय स्थान बन जाएंगे। संत जीवन में कोई न कोई तपस्या तो चलती ही रहती है चाहे वह ध्यान हो, स्वध्याय हो, आत्मचिंतन हो, सेवा हो, प्रतिसंलीनता हो काय-क्लेश हो ऊनोदरी हो अथवा भिक्षाचर्या हो कोई न कोई तपस्या तो संत जीवन में प्रायः चलती ही रहती है। अनशन, जिनकी क्षमता हो वह उतना अनशन करे। यदि दीर्घ तपस्या नहीं कर सकते हैं तो भगवान् महावीर ने उन साधकों के लिए भी संकेत दिया कि मन में कोई विचार करने की बात नहीं, सहज रूप से 12 प्रकार की तपस्याओं में वे जो भी तपस्या कर सकते हैं, उसके द्वारा अपनी आत्मा को भावित करें। जिनके अन्तराय कर्म का क्षयोपशम बना रहता है वे लम्बे समय तक लम्बी तपस्या कर सकते हैं।

[illegible] साधु-साध्वियों और श्रावक-श्राविकाओं की तपस्याएं चल [illegible] इन सभी की तपस्याएं चल रही हैं हम भी कुछ न कुछ [illegible] प्रतिज्ञा भी कर सकते [illegible] अन्दर को [illegible]

कर दें, कहदें कि दूसरे की निन्दा न तो हम सुनेंगे और न ही किसी की निन्दा हम अपने मुंह से करेंगे ! यदि इतना भी संकल्प लिया तो आप इतने ही दिनों में अनुभव कर लेंगे कि इससे कुछ आपके जीवन में कितना आनन्द आया है और कितनी हमारी आत्मा कर्मों के बंधन से बच पाई।

कहते हैं कि जब माया यह देखने लगती है कि क्रोध भी चला गया, मान भी दौड़ रहा है, क्रोध और मान के सब अवयव तितर–बितर हो रहे हैं, राग और द्वेष बिखरने लगे हैं तब वह विचार करती है कि मैं कौन से शस्त्र का प्रयोग करूं ? उसने ईर्ष्या और डाह के शस्त्र प्रयुक्त किये किंतु वे शस्त्र भी निरर्थक चले गये तब उसने निन्दा रूपी अस्त्र यह सोचकर छोड़ा कि यदि इसमें भी सुनने वाला रस लेने लग जाएगा तो कम से कम सुनने वालों पर तो मेरा अधिकार बना रहेगा। निंदा भी अपने आप में एक अमोध अस्त्र है जीव को संसार में रोके रखने के लिए। जिनकी संसार में रुकने की रुचि है अथवा जो इस अस्त्र से परास्त हो जाते हैं वे इस संसार की घाटियों में उलझकर रहने को मजबूर हो जाते हैं। परन्तु यदि एक बार भी आलोचना की या आत्मनिन्दा की स्थिति बन जाती है तो आत्मा हल्की बन जाती है और अगर आलोचना या निन्दा की स्थिति नहीं बनती है तो आत्मा बोझ और तनाव के भार से दबी रह जाती है। उत्तराध्ययन सूत्र में सम्यक्त्व पराक्रम के अन्तर्गत स्व–आलोचना और आत्मनिन्दना पर गंभीर चर्चा की गई है। वहां अध्यात्म साधना अथवा मोक्ष साधना पद्धति के प्रमुख साधनों पर सूत्रात्मक प्रश्नों के अंतर्गत गंभीर चिन्तन प्रस्तुत किया गया है। भगवान से प्रश्न किया गया 'आलोयणाए ण भंते ! जीवे किं जणयइ ?' तो भगवान् ने उत्तर दिया कि आलोचना से मोक्षमार्ग में विघ्नकारक और अनंत संसारवर्द्धक मालाशल्य, निदानशल्य और मिथ्यादर्शन शल्यों का उन्मूलन होता है। इस प्रकार जो ऋजुभाव प्राप्त होता है वह नवीन बंध होने से तो रक्षा करता ही है, यदि पूर्व बंध हों तो उनकी भी निर्जरा करता है। यहां यह समझ लें कि स्व–आलोचना स्व–निन्दना की दिशा में ले जाने वाली वृति ही है क्योंकि वह अपने सम्यक मूल्यांकन के अवसर प्रदान करती है और इस प्रकार आत्मशुद्धि का मार्ग प्रशस्त करती है। यही कार्य स्व–निंदा भी किंचित् भिन्न रूप में करनी है। उस रूप को समझना भी आवश्यक है।

जब भगवान् से पूछा गया कि निन्दना से जीव को क्या लाभ होता है तो भगवान ने कहा कि स्व–निन्दना से पश्चाताप होता है। यह पश्चात्ताप आत्मसाक्षी में होता है इसलिये मोहनीय कर्मों का क्षय करता है।

इसी संदर्भ में गर्हणा की बात भी कही गई है। गर्हणा क्या है ?

प्रमादरहित होकर अपनी शक्ति के अनुसार अपने कर्मों के क्षय के लिये गुरुजनों के समक्ष अपने दोषों को सरलता से प्रकट करना गर्हणा है। यहां गर्व भाव का सर्वथा त्याग होता है और ऐसा त्याग अपुरस्कार है जिसका फल कर्मबन्ध के हेतुभूत अप्रशस्त गुणों से निवृत्ति है। कर्मों के राजा मोह को परास्त करने के लिये मार्ग है। हम सब यह भली प्रकार समझ लें और आत्मकल्याण को दूर करने की दिशा में प्रवृत्त हों जिससे आत्मसिद्धि को प्राप्त करने के सुअवसर मिलें। वीर प्रभु द्वारा उपदेशित धर्म में पराक्रम दिखाने की यही विशिष्ट विधि भी है जिससे सम्यक्त्व की शुद्धि होती है, जो आत्मसाधना और मोक्षप्राप्ति का मार्ग भी प्रशस्त करती है।

☆☆☆

6.9.2000

सहज जीवन जीने की कला

जब–जब व्यक्ति असहज प्रवृत्ति में गया है उसने दुःख को आमंत्रण या है, उसे द्वंद्व का सामना करना पड़ा है और वह शांत से अशांत बना । किन्तु मानव का स्वभाव कुछ ऐसा है कि वह सहज रूप में प्रवृत्त कम हो पाता है। वह चाहता है कि वह कुछ भिन्न करे कुछ नवीन करें। एक स्थिति में रहना उसे इष्ट नहीं है। नएपन को प्राप्त करने के लिए चाहे सके सामने कितनी भी कठिनाइयां आयें उन्हें वह चुनौती मानता है और ीकार करने के लिए तत्पर रहता है। परन्तु अपने ऐसे प्रयासों में जब वह ारों तरफ से घेराव में आ जाता है, उलझ जाता है, तब वह विचार करता कि यह मैंने क्या किया ? यदि ऐसा नहीं करता तो ही अच्छा था, ऐसी ारी अवस्थाएं बढ़ाकर मैंने स्वयं ही जी का जंजाल मोल ले लिया है। इस कार 'बैठी ठाली डोकरी, घर में घाल्यो घोड़ो' जैसी हालत मैंने करली है। यदि मैं सहज रहता तो ऐसी अवस्थाओं से मुझे गुजरना नहीं पड़ता न तनाव ही आता। तब मुझे द्वंद्व का सामना भी नहीं करना पड़ता, न कठिनाइयों को झेलना पड़ता। किन्तु होता क्या है इसे समझिये।

एक तपस्वी तपस्या करता है और तपस्या के दौरान उसके मन में विचारों का क्रम चल पड़ता है–इतनी तपस्या करूंगा, इतनी तपस्या करने के बाद पारणा होगा; फिर पारणे की सारी योजना उसके दिमाग में चलने लगती है। इसी प्रकार खाने वाला सोचता है कि यह इतनी तपस्या कर रहे हैं, मुझे भी करनी चाहिए। तात्पर्य यह है कि जो व्यक्ति जहां है, वहां उसे संतोष नहीं है, वह उससे आगे कुछ और बनना चाहता है, कुछ नया अद्भुत प्राप्त करना चाहता है। खानेवाला व्यक्ति जब तपस्या करने की बात सोचता है तब कभी–कभी घण्टे, दो घण्टे निकल जाते हैं फिर उसे [illegible]

है कि तपस्या कठिन है। इसी प्रकार जब तपस्या करने वाला पारणा करता है तो उसके सामने कठिनाई आ जाती है। कारण क्या है ? कारण है कि मूल अवस्था को लोग समझ नहीं पाते हैं। मूल अवस्था होनी चाहिए सहज और वह सहज अवस्था जब तक नहीं बनती तब तक चाहे तप के द्वारा तप लिया जाए, चाहे ज्ञान प्राप्त कर लिया जाए, चाहे कठिन परिश्रम कर लिया जाए, स्थिति में कोई फर्क नहीं पड़ेगा। अंतर की अवस्था जव तक सहज नहीं हो पायेगी, संतोष भी तब तक प्राप्त नहीं हो पायेगा। अब समझने की बात यह है कि अंतर की अवस्था सहज कैसे हो ? यही कठिन बात है।

शास्त्रकारों ने बताया हैं–

मज्झत्थो निज्जरापेही.......... ।

निर्जराप्रेक्षी अर्थात् निर्जरा चाहने वाले, देखने वाले, मध्यस्थ हो जाएं परन्तु मध्यस्थ कहने से तो कोई मध्यस्थ नहीं हो जाता है। संत कहते हैं– कषाय नहीं करना चाहिए, किंतु अकषाय में हम कितने क्षण रुक पाते हैं ? एक क्षण तो लगेगा कि कषाय नहीं है पर थोड़ी देर में ही हमारे सामने यदि वातावरण में परिवर्तन आ जाए तो हम स्वयं ही कषाय में आ जाते हैं, असहज अवस्था में आ जाते हैं, मध्यस्थ नहीं रह पाते। अनुकूल–प्रतिकूल अवस्थाओं से हम जल्दी ही प्रभावित हो जाते हैं। शीत लहर चली नहीं कि जुकाम हो जाता है। ऊष्ण हवा चली नहीं कि हमें लू लग जाती है। हम शीतलहर से बचाव करते हैं, गर्म हवा से बचाव करते हैं किन्तु भीतर की उस शक्ति को प्रकट नहीं करते हैं जो कैसी भी लू चले, कैसी भी शीतलहर चले, सभी को निष्प्रभावी करने में समक्ष होती है। विचार किजिये कि एक किसान खेत में काम करता है पर क्या गर्म लू उसे सताती हैं ? क्या शीतलहर उसके काम में बाधा पहुंचाती हैं ? क्या वह इनके डर से अपना काम छोड़ देता हैं ? क्या वह सोचता कि मैं खेत मे काम नहीं करूंगा क्योंकि आज शीतलहर चल रही हैं ? एक गरीब मजदूर प्रतिदिन मजदूरी करता है और मजदूरी से जो पैसा मिल जाता है उससे ही गुजारा करता है, ऐसा मजदूर क्या शीतलहर या लू को देखता है ? क्या यह सोचता है कि आज शीतलहर चल रही है या गर्म लू चल रही है इसलिये मैं काम पर नहीं जाऊं, मजदूरी नहीं करूं ? वह जानता है कि आज यदि मजदूरी नहीं की तो शाम को खाली पेट सोना पड़ेगा। खाली पेट सोना उसे सह्य नहीं है इसलिए चाहे शीतलहर चले, चाहे लू की लपटें चलें, फिर भी वह मजदूरी के लिए निकलता है। उसे शीतलहर या लू प्रभावित नहीं करती। ऐसा नहीं है कि वह संवेदनाहीन है। प्रभाव उस पर भी पड़ता है परन्तु उसका दृढ़

मनोबल उसे शक्ति देता है, उसमें ऐसी क्षमता उत्पन्न कर देता है कि अनुकूल प्रतिकूल परिस्थितियों का उसके शरीर पर कोई प्रभाव नहीं पड़े। प्रत्येक शरीर में ऐसी क्षमता होती है किन्तु हम मनोबल की कमी और अपने रहन–सहन के ढंग के कारण उस क्षमता को प्रकट नहीं कर पाते हैं। अथवा अपने–जीवन शैली से हमने अपने शरीर को ऐसा बना लिया है कि वह नाजुक बन गया है। परिणामस्वरूप गर्म हवा उसके लिये पीड़ादायिनी बन जाती है और शीतलहर उसको ठण्डा करने वाली बन जाती है। फिर ऐसा होता है कि थोड़ी–सी शीतलहर चली कि जुकाम हो गया, थोड़ी सी गर्म हवा चली कि लू लग गई। क्या कारण है कि ऐसा होता है ? कारण है कि हमारी प्रवृत्ति सहज नहीं है। हमने अपने–आप को इतना असहज बना लिया है कि बाह्य परिवर्तन हम बरदाश्त नहीं कर पाते है। इसी प्रकार आंतरिक परिवर्तन चाहे कषाय हो, चाहे द्वेष हो, चाहे राग हो, अनुकूल या प्रतिकूल वातावरण हो उन्हें भी हम समभाव या सहज भाव से स्वीकार नहीं कर पाते है। अनुकूल वातावरण होता है तो हम में हर्ष भाव आ जाता है मन में अनुराग का भाव उत्पन्न हो जाता है और यदि कहीं द्वेष की अवस्था बनती है तो हमारे भीतर भी द्वेष की, प्रतिकार की भावना जाग उठती है। हम मन को संतुलित नहीं रख पाते हैं समभाव में स्थित नहीं रह पाते हैं और परिस्थितियों में बह जाते हैं। यह सब घटित हो जाता है और हम जब तक चेतते हैं तब तक तो सारी चीजें घटित हो चुकी होती हैं। ऐसा क्यों हो जाता है ? क्या कभी किया है हमने इस पर विचार ? हम कुछ विचार कर पायें इसके पहले ही बहुत–कुछ बिगाड़ हो चुका होता है। इसका कारण है कि हम जाग्रत नहीं हैं। अपने मन की गतिविधियों का हम स्वयं अनुभव नहीं कर पाते हैं। बहुत सारी गतिविधियाँ या प्रतिक्रियाएँ हमारी बिना जानकारी के हो जाती हैं और जो कुछ भी बिना जानकारी के हो जाता है, उसका एहसास हमें बहुत बाद में होता है। तब तक गंगा का बहुत –सा पानी समुद्र में जा चुका होता है।

बंधुओं ! सहज अवस्था लाने के लिए प्रभु महावीर ने आलोचना –निन्दा–गर्हा की बात कही है। आलोचना हो जाती है पर मात्र आलोचना से काम नहीं चलता है, यदि मात्र आलोचना हमने कर ली, किन्तु अशुभ के प्रति हमारे मन में निन्दा के भाव, घृणा के भाव जाग्रत नहीं हुए तो वह आलोचना जिस उद्देश्य से की गई थी, जिस अपराध के प्रतिकार के लिए की गई थी उसका न प्रतिकार होता है और न उस उद्देश्य को पूर्ति ही होती है। तब ऐसा भी हो सकता है कि पुनः हमारा रुझान उस ओर बन सकता

है। इसलिए जो गलत कार्य हम से हो गया हो, जिस असहज प्रवृत्ति में हम जा चुके हो, जिस प्रतिकूल अवस्था का हमने सेवन कर लिया हो उसके प्रति दुराव उत्पन्न करने के लिए और पुनः हमारा रुझान उस तरफ नहीं हो हम उस अवस्था की निंदा करें, निंदा के साथ ही हमारे भीतर गर्हा की भावना भी जगे यह भी आवश्यक है। यदि गर्हा के भाव जन्म लेते हैं तो ही अनुकूल स्थिति बनती है। आप देख लीजिये, व्यवहार रूप में भी, यदि कहीं गंदगी भरी हुई है, दुर्गन्ध आ रही है, वहां यदि थोड़ी देर के लिए खड़ा रहने के लिए हमसे कह दिया जाए, या उधर देखने के लिए कह दिया जाए तो उस समय हमारी मनःस्थिति कैसी बन जाती है ? उस स्थान के प्रति हमारे मन में यदि घृणा के भाव जग जाते हैं, तो उसके कारण हैं। हमारी चाह नहीं होती, उधर हमारा रुझान नही होता। साथ ही घृणाभाव उत्पन्न हो गया होता है। और जिस स्थान के प्रति घृणाभाव उत्पन्न हो जाते हैं उस स्थान पर हम रुक नहीं पाते हैं, उस स्थान को छोड़ना चाहते हैं। थोड़ी देर और खड़ा रहना न पड़े न चाहते हुए भी तो वमन हो जाता है, उल्टी हो जाती है। क्या ऐसा नहीं होता है ? तब आप अस्पताल में जाते हैं तब वहां का दृश्य देखकर कैसी अवस्था बन जाती है ? ऐसा लगता है कि थोड़ी देर यहां और रहा तो मुझे उल्टी हो जाएगी। ऐसे जो भाव बनते हैं उस अवस्था को हम टालना चाहते है। उससे बचना चाहते हैं जैसे बाहर की गंदगी के प्रतिं घृणा होती है और उससे हम बचना चाहते हैं वैसे ही आंतरिक अवस्था में भी जो अवस्था हमें विपरीत लगती है उसके प्रति हमारे मन में गर्हा के भाव पैदा हो जाते हैं, उस अवस्था से हम हटने की कोशिश करते हैं, और फिर सहसा उस स्थान पर या वैसी गंदगी में जाने को तैयार नहीं होते हैं उस प्रकार की गंदगी से अपना वचाव करते हैं। वैसे ही अपने भीतर की गंदगी से भी हम अपना बचाव करे, परन्तु इसके लिए उस प्रकार की गंदगी का अनुभव भी होना चाहिये। यदि अनुभव नहीं होता है तो गाड़ी जैसी चल रही है, वैसी ही चलती रहेगी। इस स्थिति को समझने के लिये हम भगवान् महावीर की आत्मा से संवंधित उस प्रसंग को ध्यान में लें जो तव का है जब वह त्रिपृष्ठ वासुदेव के भव में थी। उस प्रसंग से यह भी समझ में आ जायेगा कि आलोचना एवं निन्दा नहीं करने से जीव की कैसी दुर्गति होती है।

जव अश्वग्रीव सम्राट को समाप्त कर त्रिपृष्ठ वासुदेव अधिपति वन गये, तव वे पूर्णतः निर्द्वन्द्व होकर उन्मुक्त आचरण करने लगे। उन्होंने देख लिया था कि उनका विरोध करने का न किसी में साहस ही था और न

क्षमता ही थी। एक बार उनके शयनागार में नृत्य–संगीत का कार्यक्रम चल रहा था। उन्होंने शय्यापालक को आदेश दिया कि यदि उन्हें नींद आ जाय तो कार्यक्रम को बन्द करवा दिया जाए। संयोग से उन्हें नींद आ गई परन्तु मादक संगीत में आसक्त शय्यापालक को कार्यक्रम बंद करवाने का ध्यान नहीं रहा। कुछ समय पश्चात् त्रिपृष्ठ वासुदेव की नींद खुल गई। कार्यक्रम को चलता देखकर उनके क्रोध का पार नहीं रहा। उन्होंने शय्यापालक से आज्ञा की अवज्ञा का कारण पूछा। शय्यापालक को काटो तो खून नहीं। वह समझ गया कि उसकी शामत आ गई थी। उसने बहुत आजिज़ी से मादक संगीत के प्रभाव के कारण हुई विस्मृति के लिये क्षमा माँगी। परन्तु त्रिपृष्ठ वासुदेव का क्रोध चरम सीमा पर था। सत्ता और शक्ति के उन्माद में वे दया, करुणा, क्षमा, मानवता, सब भूल गये थे। उन्होंने आदेश दिया कि जिन कानों ने अपनी अतृप्त कामना से उनके आदेश की अवज्ञा करवाई थी उनमें गर्म–गर्म पिघला हुआ सीसा उड़ेल दिया जाय। शय्यापालक की दीन–आर्त पुकार को पूर्णतः अनसुना कर उस क्रूर आदेश की पालना कर दी गई और बेचारे शय्यापालक ने भीषण पीड़ा से तड़पते हुए प्राण त्याग दिये। राजमद में उन्मत्त त्रिपृष्ठ वासुदेव ने अपने इस क्रूर कर्म की न आलोचना की और न निन्दा की। परिणामस्वरूप भीषण नारकिय कष्ट और वेदना भोगने के बाद जन्मान्तरों में जब भगवान् महावीर के भव में, उन्होंने जन्म लिया तब अपने कानों में उन्हें कीले ठुकवाने पड़े। बंधुओं, तब इस तथ्य को हम समझ लें कि जब तीर्थंकर भी अपने किये हुए कर्मों का फल भोगे बिना मुक्त नहीं हो सकते तब हमारे जैसे सामान्य मनुष्यों की तो बिसात ही क्या है। इसलिये हम यह भी समझ लें कि वैषयिक सुख अल्पकाल तक तो सुख का भ्रम उत्पन्न कर सकते हैं, परन्तु उनका परिणाम दीर्घकालीन दारुण दुःख ही होता है। यह दुःख मनुष्य को निश्चित रूप से भोगना पड़ता है, कोई दूसरा व्यक्ति उसके भोग में न उसका साथ दे सकता है, न उसकी सहायता ही कर सकता है इस ध्रुव सत्य को हम किसी भी हालत में विस्मृत न करें।

इस संबंध में एक अन्य प्रसंग भी है। जब काल शैकरिक कसाई की मृत्यु हो गई तब परिवार वालों ने उसके पुत्र सुलस से कहा कि अब तुम अपने पिता के व्यापार–धंधे को चालू रखो। सुलस ने कहा कि मैं कत्लखाने और कसाई का धंधा नहीं कर सकता। परिवारजनों ने उसे पिता के समक्ष ली गई शपथ का ध्यान दिलाया। इस पर सुलस ने कहा कि मैं व्यवसाय करूंगा। लेकिन ऐसा व्यवसाय नहीं करूंगा जिसमें प्राणियो का वध किया

जाता है। परिवारजनों ने उस पर दबाव बनाये रखा कि नहीं, हम जो आनुवंशिक रूप से धंधा कर रहे हैं, उसी धंधे में तुमको भी लगना चाहिये। तुम्हारे पिता और तुम्हारे दादा भी यही धंधा करते रहे थे और इसी से परिवार का भरण–पोषण करते रहे थे। जब उनका दबाव असह्राय हो गया तब सुलस ने अपने पास से कटार निकाली और अपने ही शरीर पर थोड़ा आघात कर लिया और पूछा कि मुझे यह वेदना क्यों हो रही है ? परिवार जनों ने उपहासपूर्वक कहा कि तू कैसा मूर्ख है, स्वयं अपने शरीर पर आघात करके पूछ रहा है कि दर्द क्यों हो रहा हैं ? तब सुलस ने कहा कि मेरे इस दर्द में आप भी भागीदार बनिये। परिवारजनों ने कहा कि इसका भागीदार कोई कैसे बन सकता है ? इस दर्द को तो तुम्हें ही सहन करना पड़ेगा। तो उसने कहा कि जैसे इस छेदन–भेदन का दर्द मुझे स्वीकार करना पड़ेगा वैसे ही मैं जो कार्य करूंगा, प्राणियों का जो वध करूंगा, उसका कर्मबंधन भी मुझे ही होगा और उसकी वेदना भी मुझे ही सहन करनी पड़ेगी। इसलिए मुझे कौनसा व्यापार–व्यवसाय करना है, यह भी मेरे ही सोचने का विषय है। पर इतना स्पष्ट है कि मैं कत्लखाने का व्यवसाय नहीं कर सकता। बंधुओं ! सुलस एक दिन में नहीं सुधरा था। अभयकुमार ने उसके साथ दोस्ती की थी और दोस्ती करके उसको वीतराग प्रणीत तत्त्व का बोध करवाया था। जब सुलस अभयकुमार के द्वारा प्रतिबोधित हुआ और उसकी समझ में आ गया कि वस्तुतः जीवन क्या है उसे कैसे जीया जाए, तब उसके जीवन का रूपान्तरण हो गया, उसमें बदलाव आ गया, परिवर्तन आ गया। हम भी यदि निर्णय कर लें कि हमारा जीवन कैसे चलना चाहिए ? तो हमारा उद्धार हो सकता है। तब विचार किजिये कि हम किस प्रकार से जीयें। जीने को तो हम जी रहे हैं, किन्तु आनन्दपूर्वक नहीं जी रहे हैं। सम्पत्ति है, वैभव है, परिवार है, सब साधन हैं किन्तु इन साधनों के होते हुए भी शांति नहीं है, संतोष नहीं है। हम तनाव में जी रहे हैं, भय में जी रहे हैं, अशांति और द्वन्द्व में जी रहे हैं। यह जीना भी कोई जीना है ? वस्तुतः हम जीने की कला नहीं समझे हैं, कि जीया कैसे जाए। भगवान् महावीर ने जीने की यह कला पूरे मानव समाज को दी है, प्राणी मात्र को दी है। एक सूत्र में बता दिया है कि 'परस्परोपग्रहो जीवानाम्।' इस प्रकार परस्पर उपग्रह का भाव रखते हुए मन में दूसरे प्राणी के प्रति अनुकम्पा के भाव रखें। यदि हम जीना चाहते हैं तो दूसरे को भी जीने का अधिकार दें। यदि हम किसी को जिंदा नहीं कर सकते हैं तो उसे मारने का हमें क्या अधिकार है ? यदि इस बात को हम समझ लें, समझ के ही नहीं रहें, इसे

जीवन का अंग भी बना लें तो हमारा जीवन–व्यवहार बदल जाये। कोई दुःख और तनाव नहीं रहे, कहीं अशांति और टेंशन नहीं रहे। तब एकदम सहज रूप में जीवन की चर्या चलेगी। तब चाहे सुख हो, दुःख हो, हम जंगल में हों या महल में हों, आधी और तूफान हो, या आनन्द महोत्सव में हों, हर समय हमारे भीतर आनन्द और संतोष प्रकट होता रहेगा।

मासखमण की तपस्याएं भी चल रही हैं सभी अनशन के मासखमण नहीं कर सकते। उनके लिए मैं कहता हूं ऐसा मासखमण कीजिये जिसमें संकल्प हो कि तीस दिन तक किसी की निन्दा नहीं करेंगे, तीस दिन तक क्रोध नहीं करेंगे, तीस दिन तक ऐसा अहंकार, जिससे दूसरों को हीन दृष्टिगत करवाया जाय, नहीं करेंगे ! किसी के साथ 30 दिन तक बुरा व्यवहार नहीं करेंगे, ऐसी कोई कार्यवाही, जिससे दूसरे का नुकसान होता हो, उससे हम अपना बचाव करेंगे। ये जीवन जीने के सूत्र हैं ! व्यक्ति स्वयं अपने–आप में ऊँचा उठना चाहता है, उसे ऊँचा उठना पसंद है, किन्तु पड़ौसी या दूसरा व्यक्ति ऊँचा उठने लग जाए तो वह उससे हर्षित नहीं होता है। हमारे मन में यह विचार होना चाहिए कि हम जैसी उन्नति करना चाहते हैं, वैसी ही उन्नति दूसरे व्यक्ति को भी करने का अधिकार है, उस उन्नित में हमारा योगदान भी उपेक्षित है अतः हम अपना योगदान दें। आपके योगदान से यदि दूसरे ने उन्नति की तो उसमें आपकी उन्नति भी अपने–आप ही जुड़ी हुई होगी। इसलिए मैं एक सामान्य बात कह रहा हूँ कि हम किसी को गिराने का नहीं, उठाने का काम करें। उठाने का काम करेंगे तो समझ लीजिये कि हमारी आत्मा उससे पहले उठ चुकी होगी ! बंधुओं ! हमें प्रेरक प्रसंग से प्रेरणा लेनी चाहिए और हमारा जीवन कैसे सहज और सुंदर बने, कैसे असहज अवस्था सहज बने, इस दिशा में हमारा चिंतन चलना चाहिये सहज बनाने की दिशा में हमें प्रयास करना चाहिए। हम चिन्तन करें कि हम अपने–आप को सहज कैसे बना सकते हैं। प्रैक्टिकल रूप से हम कुछ चिंतन करें। ऐसे प्रयोग हैं, ऐसे फार्मूले हैं जिनके माध्यम से हम चाहे कैसी भी विकट परिस्थिति में हों, अपने–आप को सहज बना सकते हैं हम उन फार्मूलों को पहचानें, उन्हें प्रयोग में लाएँ और अपने आप को सहज बनाने की दिशा में गति करें ।

☆☆☆

7.9.2000

सच्चा पुरुषार्थ

पाप करने में तो मनुष्य बहुत शूरवीर है, पाप कार्यों में वह बहुत रस लेता है परन्तु उन पाप कार्यों के कारण कर्म बंधन की जो अवस्था बनती है उसके फल को भोगने के लिए वह बिल्कुल तैयार नहीं होता। इसी प्रकार पाप कार्य वह कर तो लेता है किन्तु पाप कार्य को प्रकट करने की हिम्मत अपने भीतर पैदा नहीं कर पाता। वह चाहता है कि पाप तो वह करता रहे किन्तु उसका पाप प्रकट नहीं हो भले वह पाप कार्य आवरण के भीतर पलता रहे। इस प्रकार की मानसिकता बहुत दुःखदायी बन सकती है क्योंकि आप जानते हैं कि यदि कहीं फोड़ा है और सावधानी नहीं रखी गई, मवाद पड़ गई, तो वह फोड़ा दुःखदायी और कष्ट देने वाला बन सकता है। प्रारम्भ में एक छोटी-सी फुंसी होती है। पहले वह छोटी होती है फिर वह धीरे-धीरे बड़ा रूप धारण कर लेती है और उसके भीतर मवाद पड़ जाती है। मवाद पड़ने पर वेदना होती है। भले हाथ पांव में कहीं पर वह फोड़ा हुआ हो परन्तु पूरा हाथ या पूरा पांव दर्द से अकड़ जाता है। तब हाथ या पांव ऊँचा-नीचा करने में भी कठिनाई होती है। एक छोटे-से स्थान पर बना हुआ फोड़ा पूरे शरीर तंत्र को प्रभावित कर देता है, परिणामस्वरूप शरीर की गतिविधियों में अंतर आ जाता है बाहर का फोड़ा जब हमारी गतिविधियों को इतना प्रभावित कर सकता है तो वह अन्दर का फोड़ा और उसमें यदि मवाद भर गया है तो विचारों और भावों को कितना प्रभावित कर देगा यह समझ पाना कठिन नहीं है। अंतर के ऐसे फोड़े से पीड़ित मनुष्य जीयेगा तो जरूर लेकिन उसके जीने में कोई आनन्द नहीं होगा। कहने के लिए तो बहुत से प्राणी जीते हैं, कीड़े-मकोड़े भी अपने जीवन का निर्वाह कर लेते हैं, वे खाते-पीते और सोते भी है, किन्तु उनका जीवन आत्मविकास

की दृष्टि से नहीं होता है। ऐसा जीवन यदि मनुष्य जीये तो मनुष्य और पशु में अंतर क्या रहा ?

पशु जगत् में रहने वाले भी कभी–कभी प्रायश्चित्त कर लेते हैं और इस प्रकार अपना शुद्धिकरण कर लेते हैं। आपने सुना होगा कि मेढ़क पूर्वभव में नंदन मणियार का जीव था। तब वह 12 व्रतधारी श्रावक था, साधु– संतों का योग नहीं मिला, संयोग नहीं मिला और एक बार जेठ माह की भरी गर्मी में उसने तेला कर लिया। उस तेले से जो परीषह की स्थिति बनी उस से वह मन ही मन विचलित हो गया और सोचने लगा कि धन्य है वे सेठ साहूकार जिनके पास अनेक बावडियां हैं, जिनमें अनेक व्यक्ति स्नान करते है, पानी पीते हैं एवं प्रसन्नता का अनुभव करते हैं कितना अच्छा हो, मेरे पास जो सम्पत्ति हैं मैं उसका सदुपयोग करूं, बावड़ी बनवाऊं और वृक्षारोपण करवाऊं, अनेक व्यक्ति उस बावड़ी का पानी पीये और दुःखी व्यक्ति और राहगीर वृक्षों के फलों का उपभोग करें, यह जीता–जागता धर्म होगा। ऐसी अनेक कल्पनाएं उसके मन में बनीं और तेला पूर्ण होते ही वह सम्राट के पास पहुंचा और अपनी भावना का निवेदन कर उनसे उनकी अनुमति प्राप्त कर ली। फिर अपने पैसों से बावड़ी, बगीचे आदि निर्मित करवाये चारों तरफ से उसकी ऐसी प्रशंसा होने लगी–अहो, नंदन मणियार कितना परोपकारी है! दुःखी जनों, गरीबों और राहगीरों के लिए उसने कैसी सुविधाएं कर दी हैं। बावड़ियों में स्वच्छ जल है जो 12 महीनों कायम रहता है। बगीचा ऐसा लगाया है कि किसी न किसी प्रकार के फल 12 महीनों प्राप्त होते रहते हैं। धन्य है वह ! ऐसी आत्मा परम धन्य है। प्रशंसा के ऐसे शब्द सुनकर नंदन मणियार की आत्मा प्रफुल्लित हो जाती थीं। वह सोचता होगा कि देखों, पहले मैं 12 महीनों ही व्रत और आराधना करता था, उपवास, तपस्या, बेला–तेला भी करता था किन्तु क्या इतनी कोई प्रशंसा करता था ? और आज देखो, मेरी कितनी प्रशंसा हो रही है। बंधुओं! याद रखिये पाप छिपाये ना छिपे, छिपे तो मोटा भाग.........।

उसने यह नहीं सोचा कि मैंने प्रतिपूर्ण पौषध के अन्दर अतिचार गाया है। उस व्रत के प्रति उसका ध्यान नहीं गया। सारी योजना उस पौषध व्रत में रहते हुए, आरम्भ–समारम्भ की बनी। वह मन की ऐसी अवस्था को जान नहीं पाया, न ही उस फोड़े को समझ पाया। कालान्तर में वह मृत्यु को प्राप्त हुआ और उसके बाद नन्दन मणियार के जीव ने बावड़ी में मेढक के रूप में जन्म लिया। कारण था आसक्ति का रह जाना। अन्दर फोड़ा रह गया था। यद्यपि 12 व्रतों की आराधना तो वह कर रहा था किन्तु उसने 12

व्रत तोड़े थे पौषध में दोष लगाया था, उसकी आलोचना निन्दा नहीं हो पाई थी, प्रतिक्रमण नहीं हो पाया था, इस कारण वह 12 व्रतों से विचलित होता रहा था। ऐसी स्थिति में मिथ्यात्व के उदय की स्थिति वन गई थी। इस कारण वह मनुष्य तन को हार कर मेढ़क की योनि में आ गया था। पता नहीं, कौन किस समय कहां चला जाये !

आपने सुना होगा कि एक गुरुजी अपने शिष्य पर आक्रोश कर लेते थे। उन गुरुजी को जव शिष्य वार–वार परेशान करने लगा तव वे डण्डा लेकर उसको मारने की तैयारी करने लगे। संयोग ऐसा वना कि ऊपर टांड से उनके माथे में लगी चोट, फिर वे कहां गये और क्या हुआ, आप जानते हैं। कभी–कभी ऐसे शिष्य भी मिल जाते हैं जो शांत प्रकृति वाले गुरु को भी रौद्र बना देते हैं। उत्तराध्ययन सूत्र में कहा है–

'अणासवा थूलवया कुसीला, मिउंपिंचउं पकरेंति सीसा'

'आज्ञा के अनुसार नहीं चलने वाले, कठोर वचनों का प्रयोग करने वाले कुशील शिष्य मृदुस्वभाव वाले गुरु को भी चण्ड वना देते हैं।' हालांकि गुरुजी की चंड प्रकृति नहीं थी लेकिन जव वार–वार उनको परेशान किया गया तो उनमें आक्रोश आ गया और उसी आक्रोश के क्षण में वे मृत्यु को प्राप्त हो गये। उस क्रोध के कारण कालान्तर में उनकी आत्मा ने चण्डकौशिक सर्प के रूप में जन्म लिया उस योनि में उसको ऐसा जहर प्राप्त हुआ कि काटना तो दूर यदि वह किसी को आंखों से देख भी ले तो भी उसकी मृत्यु हो जाय। यह जहर कहां से आया था ? यह क्रोध का जहर था। हम क्रोध के जहर को भी जान नहीं पाते हैं हम यह तो जानते हैं कि जहर का हमारे शरीर पर प्रभाव होता है किन्तु यह नहीं जानते कि यदि हमारे भीतर जहर नहीं है तो ऊपर का जहर असर नहीं करेगा। चण्डकौशिक सर्प ने प्रभु महावीर पर भी दृष्टि प्रक्षेप किया किन्तु जब दृष्टि प्रक्षेप से जहर का कोई प्रभाव नहीं हुआ तो उसने अंगुष्ठ में डंक लगा दिया लेकिन फिर भी प्रभु महावीर में उस जहर का अमृत बन गया ! वहां क्रोध नहीं था, वहां कषाय नहीं था, बल्कि चण्डकौशिक सर्प के प्रति वात्सल्य भाव था, इसलिए वहां का विषत्व भी तिरोहित हो गया। हम समझ नहीं पाते हैं कि हमारे भीतर तत्वों की कैसी रचना है और कैसी–कैसी प्रक्रियाएं वहाँ सम्पन्न होती हैं। एक माता जब तक संतान को जन्म नहीं देती तब–तक उसके स्तनों में दूध नहीं आता है। किन्तु संतति जन्म के अनन्तर उन्हीं स्तनों में दूध आने लग जाता है। कहां से आने लग जाता है वह दूध ? कौनसी प्रक्रिया से ऐसा होता है ? वह माता स्वयं दूध पीये या नहीं पीये, किन्तु उसके स्तनों

में दूध अवश्य आ जाता है। ये सारी प्रक्रियाएं हम शारीरिक मान लेते हैं किन्तु यथार्थ में ये मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाएं होती हैं। हमारे शरीर में रासायनिक प्रक्रिया घटित होती है। वात्सल्य भाव उत्पन्न होने से ही दुग्ध निर्माण की प्रक्रिया प्रारंभ हो जाती है। इसी प्रकार कषाय आता है तो जहर का निर्माण होता है। आज विज्ञान ने इस मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया को सिद्ध कर दिया है। परन्तु ढ़ाई हजार वर्ष पहले ही प्रभु महावीर ने इस बात को कह दिया था कि यदि हमने किसी से क्लेश किया है, झगड़ा किया है, तो क्षमा–याचना करने से पहले मुँह की अमी को नीचे नहीं उतारना क्योंकि तब वह अमी नहीं रहती है जहर बन चुकी होती है। अतः उस जहर को अपनी हलक में उतारने की कोशिश मत करो। यह रासायनिक प्रक्रिया है। उसे यदि पुनः अमृत बनाना है तो पहले अपने भीतर के उस कषाय को शांत कर दो। वात्सल्य भाव की जो सरिता भीतर है उसे प्रवाहित कर दो। यदि यह हो गया तो जहर शांत हो जायेगा। जहर शांत होने के पश्चात् अपने हलक में जो भी डालोगे वह अमृत का काम करेगा। इसी प्रकार यदि तुमने गुस्से में भोजन किया, अपने मन में आक्रोश की कोई अवस्था के रहते हुए आहार किया तो वह आहार अन्तर में उतरकर अल्सर बनाने का काम करेगा, वह घाव पैदा करेगा। लोग कहते हैं कि अल्सर कैसे हो गया ? खटाई ज्यादा नहीं खाई, मिर्च ज्यादा नहीं खाई; मिर्च खायें या नहीं खायें, अन्तर में यदि मिर्च पैदा हो गयी तो अन्तर के घाव को कुरेद देगी, भावों का असर पड़ेगा। लेश्या पर हम विचार करते हैं। लेश्याओं में वर्ण, गंध, रस, स्पर्श होते है। हमारी जैसी लेश्याएं बनती हैं उनके अनुरूप रस बनता है। इसलिए बंधुओं, जरा बारीकी से चिन्तन किजिए। बहुत समय पहले ही ये बातें प्रभु महावीर ने कह दी थी। आज विज्ञान उन्हीं की पुष्टी कर रहा है तो हम सोचने के लिए मजबूर हो जाते हैं !

भगवान् महावीर ने कहा है कि भाई छद्मस्थ होने के कारण किसी भी परिस्थिति में तुमसे पाप हो गया हो तो छिपाओ मत। वह पाप फोड़ा बन जायेगा। और यदि सावधानी नहीं रखी तो वह नासूर का रूप ले लेगा। फिर बार–बार महरम–पट्टी करते रहोगे तो भी वह नष्ट नहीं होगा। घाव भर गया किन्तु नासूर बना रहता है कुछ समय बाद फिर प्रकट हो जायेगा। हम अनभिज्ञ बने रहेंगे, ध्यान ही नहीं पड़ेगा कि क्या स्थिति बन रही है। वैसे ही हमारे भीतर की प्रक्रियाएं, यदि हमने सही नहीं रखी तो वे भी फोड़े का रूप धारण कर सकती है नासूर का रूप धारण कर सकती हैं। उसके पश्चात् उनका कितना भयंकर रूप बन सकता है, इसकी कल्पना की जा

सकती है, इसलिए कहा है कि आलोचना करो, निन्दा करो और गर्हा करो। आलोचना एक औषधि है जिसके द्वारा यदि फोड़े का मवाद निकालने का प्रयत्न होता है तो दर्द नहीं होगा। उसे हम बेहोशी की दवा भी कह सकते हैं। निन्दा एक प्रकार का एन्टीबॉयटिक है जिसके ग्रहण करने से वह आत्मबल उत्पन्न हो जाता है जिसके आधार पर वह गर्हा कर सकता है। अर्थात् मवाद को निकालकर बाहर कर सकता है। यदि ऐसे ही हाथ लगा कर दबायें तो फोड़ा दर्द करता है। इसलिए पहले उसे संज्ञाशून्य किया जाता है फिर एन्टीबॉयोटिक दवा दे दी जाती है। उसके बाद यदि आपरेशन किया जाय और सारे मवाद को बाहर निकाल दिया जाए तो भीतर स्वतः ही घाव भरने की शक्ति पैदा हो जायेगी ! वैसे ही आलोचना और निन्दा, भीतर की शक्ति हैं, यदि पाप की निन्दा करने लग जाते हैं तो ऐसी शक्ति पैदा हो जाती है जो सारे पाप को बाहर फेंक देती है। फिर यह विचार नहीं आता कि दुनिया क्या कहेगी ? दुनिया कहे तो भले ही कहे कि ऐसा पापी है परन्तु ऊपर से तो इतना धर्मात्मा बनता है उससे उसको अन्तर नहीं पड़ता। वह तो चाहेगा कि उसे पापी कहकर, प्रताड़ना करके उसके पाप को हल्का किया जाय। आप जानते हैं कि अर्जुन माली जब अणगार बन गये तब उन को कैसे–कैसे शब्द कहे गये कैसी–कैसी उनके सामने प्रताड़ना की स्थिति बनी, किन्तु अर्जुन अणगार ने उसका कोई प्रतिकार नहीं किया बल्कि यह सोचा कि सहज ही मेरी सफाई हो रही है, सहज ही धुलाई हो रही है। आलोचना का कितना विशिष्ट प्रभाव है, इस संदर्भ में महाभारत से एक उदाहरण मैं आपके सम्मुख प्रस्तुत कर रहा हूँ।

एक बार कर्ण को देख कर द्रौपदी के हृदय में कुविचार उत्पन्न हो गये थे किन्तु उसने उन्हें प्रकट कर आलोचना, निन्दना या गर्हा नहीं की थी। कृष्ण वासुदेव सारी स्थिति जानते थे। वे यह भी जानते थे कि पाप की वह छोटी–सी फुंसी फोड़ा बन सकती थी। इसलिये उन्होंने उस पाप को प्रकट करवा लेने का एक मार्ग निकाल लिया। कथा तो बड़ी है परन्तु मैं संक्षेप में मुख्य बात कह रहा हूँ। वे द्रौपदी सहित पाँचों पाण्डवों को वनभ्रमण के लिये ले गये। उन्होंने जंगल के फल तोड़ने के लिये सभी को मना कर दिया था परन्तु भीम ने सबकी नजर बचा कर एक सुन्दर फल तोड़ लिया। कृष्ण वासुदेव ने उन्हें तुरन्त रंगे हाथों पकड़ लिया। भीम के माफी मांगने पर उन्होंने पाप के प्रायश्चित्त की जो विधि बताई उसके अनुसार भीम को कहना था कि यदि मैंने यह फल तोड़ने के अतिरिक्त कोई और पाप नहीं किया है तो फल तू ऊपर उठ कर पेड़ पर लग जा। भीम ने जव ऐसा कहा

तो फल थोड़ा ऊपर उठा अवश्य, परन्तु बीच में ही रुक गया। तब कृष्ण वासुदेव ने परिवार के सदस्यों की साझा जिम्मेदारी की बात बताई और शेष चारों भाइयों से भी वैसा ही कहने के लिये कहा। प्रत्येक भाई के कहने पर फल अधिक ऊँचा तो होता गया परन्तु पेड़ से जाकर नहीं लगा। तब कृष्ण वासुदेव ने द्रौपदी से भी वैसा ही कहने के लिये कहा। द्रौपदी के वैसा कहते ही फल जमीन पर आकर गिर पड़ा। तब कृष्ण वासुदेव ने सारी स्थिति स्पष्ट करवाई। द्रौपदी ने अपने मन का पाप प्रकट कर दिया, प्रकट करने के बाद फल पेड़ पर जाकर लग गया।

बंधुओं ! यदि भगवान् महावीर की वाणी पर हम थोड़ा–सा भी गंभीर चिन्तन करें तो स्वतः ही अनुभव हो जायेगा कि उन्होंने कितनी गहराई में जाकर धर्म, नीति और न्याय की विवेचना की है। उसके अनुसार यदि उदरपूर्ति के लिए, अपने परिवार के पोषण के लिए तुम्हारी पाप करने की स्थिति बन रही है, आरम्भ करने की स्थिति बन रही है, तो वह अर्थदण्ड है अर्थहिंसा है, परन्तु उसकी बजाय यदि एक लोटा पानी भी तुमने ऐसे ही व्यर्थ में डाल दिया, वनस्पति के पत्ते को भी यदि तुमने कष्ट दिया है जिसकी कोई आवश्यकता नहीं थी, रास्ते चलते हुए बगीचे में किसी पेड़ को नोच लिया है, किसी टहनी को तोड़ लिया है, किसी फूल को खींच लिया है, तो भगवान कहते हैं कि यह अनर्थदण्ड है और इस अनर्थदण्ड से भारी दोष का प्रसंग बनता है क्योंकि यह तुम्हारे प्रमाद के कारण हुआ है, तुम्हारी लापरवाही के कारण हुआ है, प्रत्येक जीव को तुमने अपनी आत्मा के समान नहीं समझा है। अपनी उदरपूर्ति के लिए आरम्भ करना श्रावक की लाचारी है किन्तु उसके अतिरिक्त यदि वह आरम्भ करता है तो वह आरम्भ उसके लिए कभी हितकारी नहीं हो सकता। वह अनर्थदण्ड के रूप में है। भगवान ने कहा है कि ऐसा पाप श्रावक नहीं करें। महाभारत से संबंधित पूर्व प्रसंग में भीम ने ऐसा ही पाप किया था। वे पांचों भाई एक–दूसरे के सहभागी थे। पांचों का काम में अप्रत्यक्ष सहयोग था। इसलिए एक व्यक्ति ने फल तोड़ा तो उसका दोष पांचों को लगना था। संयुक्त परिवार में यदि एक व्यक्ति हिंसा करता है तो उस हिंसा का पाप सभी को लगता है।

घर में बहिन रसोई बनाती है। आपने न चूल्हे के हाथ लगाया और न अग्नि जलाई, न अन्य किसी चीज के ही हाथ लगाया। बहन ने घर में रसाई बनायी और आप जाकर वह भोजन करते हैं, उसका पाप किस–किस को लगेगा ? सब को लगेगा। आप थोड़े ही बच जाओगे। आप सोचें कि यह सारा पाप तो बहिन को लगेगा, मैंने हाथ ही कहां लगाया ? मैं क्यों पाप

का भागी बनूंगा ? ऐसा सोचने मात्र से उस पाप से आप बच नहीं सकते। अरे ! भाई, उसने तुम्हारे लिए ही तो भोजन तैयार किया है। आप जानते हैं कि हिंसा करे तो हिंसा, हिंसा करवाये तो हिंसा और हिंसा का अनुमोदन करे तो हिंसा। पाप करे तो पाप, पाप करवाये तो भी पाप और पाप का यदि अनुमोदन भी करे तो भी पाप। यदि पाप से बचने का यही तरीका हो जाय कि जो स्वयं से क्रिया नहीं करेगा तो उसे पाप नहीं लगेगा और कोई सोचे कि मैं तो आग के हाथ नहीं लगाऊं, मैं वनस्पति के हाथ नहीं लगाऊं, ताकि मैं पाप से बच जाऊं। इस प्रकार यदि पाप से बचाव हो तो मेरे खयाल से आज के युग में बड़े–बड़े घरों की सेठानियां तो पाप की भागीदार हो ही नहीं सकतीं क्योंकि उनके यहां तो नौकर होते हैं। रसोई बनाने वाला रसोई बनाता है, पानी भरने वाला पानी भरता है साग–सब्जी बनाने वाला साग–सब्जी तैयार करता है। किन्तु ज्ञानीजनों ने कहा है कि अपने हाथ से, विवेक से जो काम करता है वह कभी पाप–कर्म का बंध कम करने वाला हो सकता है किन्तु यदि दूसरों से करवाता है और यदि विवेकावान नहीं है तो वह अधिक पाप कर सकता है। इस रूप में उस अधिक पाप का भार भी उन करवाने वालों को आयेगा। इस संदर्भ में आचार्य पूज्य, युगद्रष्टा, युगपुरुष ज्योर्तिघर जवाहर ने अपने बचपन की एक घटना का उल्लेख करते हुए फरमाया था कि उनके मामाजी ने, जो भांग काम में लेते थे, एक बार कहा कि जाओ, भांग की कुछ पत्तियां लेकर आओ। बाल अवस्था में वे यह नहीं समझते थे कि कितनी पत्तियां चाहिए, वे बहुत–सारी पत्तियां सूंत कर ले आये तो उनके मामाजी ने कहा कि इतनी पत्तियों का क्या काम है ? उनको उस समय पश्चात्ताप हुआ कि मैंने इस बच्चे को भेज दिया, इस कारण से इतनी पत्तियां व्यर्थ में गईं। यह पाप के दोष का कारण बना। आचार्यश्री जवाहर के मन में वे विचार घर कर गये और वे अपने प्रवचनों में कहते रहे कि कभी स्वयं करने में हिंसा कम हो सकती है और करवाने में हिंसा अधिक हो सकती है।

कभी–कभी बहिन और भाई सोचते होंगे कि घर में आरम्भ–समारम्भ कौन करे, होटल में तो भोजन बनता ही है, जायेंगे और सीधे होटल में भोजन कर लेंगे उसमें पाप क्रिया कम लगेगी ! होटल में पाप क्रिया कम लगेगी या ज्यादा लगेगी ? निश्चित रूप से ज्यादा लगेगी। मैंने पहले भी एक बार कहा था, यहीं जयपुर के कई भाई थे, वे गोठन में दर्शनार्थ उपस्थित हुए और सोचा कि चलो, जल्दी निकल जाते हैं, कहीं होटल में भोजन कर लेंगे और एक जगह ढाबे पर भोजन करने बैठे तो थाली में जो

रोटी आई उसकी परत खोली तो उसमें कई मरी हुई इल्लियां थी। वे पहुंचे जहां रसोई बन रही थी, रोटियां बन रही थी। रसोइये ने कहा कि साहब कहीं से आ गई होंगी, बाकी तो हमारे पास टाटा का आटा है। वह टाटा का आटा है तो क्या हो गया ? इल्लियां थोड़े ही जानती हैं कि यह टाटा का आटा है। वह कितने दिन पहले तैयार हो गया था ? कितना समय निकल चुका था ? उसमें जीव पड़े होंगे तो उनको कौन देखेगा ? उन्होंने कहा कि दिखाओ तुम्हारा आटा और जब आटा देखा तो उसमें बहुत–सारी इल्लियां थी। वे भाई कहने लगे कि उस दिन से हमने मन में संकल्प लिया कि किसी भी ढाबे में भोजन नहीं करना। नहीं तो कभी–कभी लोगों को घर की चाय अच्छी नहीं लगती है और बाजार की चाय चुस्की ले–ले कर पीते हैं। घर में बनी मिठाई अच्छी नहीं लगती है, घर में बनी कचौड़ी अच्छी नहीं लगती है, घर में बनी रोटियां अच्छी नहीं लगती हैं और बाजार की मिठाई, कचोरी, रोटी बड़ी स्वादिष्ट लगती हैं। किन्तु बन्धुओं, आप यदि मानकर चलते हैं कि घर में बनने से पाप ज्यादा है और होटल में खाकर हम कम पाप कर रहे हैं तो ऐसी भूल मत करना क्योंकि होटल में जो काम करने वाले होते हैं वे कितनी सफाई से काम करते हैं ? वहां जीवों का बचाव होता है या संहार होता है, यह कहने की आवश्यकता नहीं है। यदि विवेकवान नहीं हैं तो स्वयं के हाथ से रसोई बनाने की बजाय बाजार के खाने में ज्यादा पाप लग जाएगा। आचार्य जवाहर ने कई ऐसी भ्रांतियों का उन्मूलन किया। उन्होंने फरमाया था–आप 15–15 दिन पहले आटा पीसकर भण्डार कर लेते हैं कि पर्युषण के दिनों में चक्की नहीं चलेगी। यदि उसमें जीव पैदा हो जाए तो क्या वह लाभकारी है ? वह तो पर्यूषण के दिनों में दोष का कारण बनेगा। यदि उसमें जीव पैदा हो जाएं, त्रस जीव पैदा हो जाएं तो वह ज्यादा दोष का कारण बनेगा, उसकी तुलना में पर्युषण के दिनों में चक्की चलाने का दोष कम होगा। चिंतन करें, ऐसी बहुत–सारी बातें हैं इनसे यह स्पष्ट है कि एक परिवार की सामूहिक भागीदारी होती है, इसलिये घर में जो पाप होता है उस पाप में सभी की समान रूप से भागीदारी बनती है। श्री कृष्ण वासुदेव ने यही बात समझाई थी।

बंधुओं, चाहे घटना किसी भी प्रकार की हो, हमें सारा सार समझ लेना है कि वस्तुतः पाप का प्रक्षालन कैसे हो, पाप जब तक किसी भी माध्यम से बाहर नहीं निकलेगा, तब तक जीवन को स्वस्थ नहीं रहने देगा। यदि पाप का अंश भी भीतर पड़ा रहेगा तो हमारी साधना भी स्वस्थ नहीं हो पायेगी। इसलिए भगवान महावीर ने कहा है कि साधकों से छद्मस्थ

अवस्था में रहते हुए जो भी भूल हो जाए, त्रुटि हो जाए, उसकी आलोचना कर लो, इतनी ताकत पैदा कर लो कि उस पाप की गर्हा कर सको, बाहर निकालकर उस पाप पंक को धो सको। यदि पाप पंक धो लिया तो जीवन उज्ज्वल हो जाएगा, अन्यथा त्रिपृष्ठ वासुदेव की, ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती आदि की जो दशा बनी उससे कौन रोक पायेगा ? ठीक इससे विपरीत, जो अपने दोषों की शुद्धि कर लेता है वह प्रिय मित्र चक्री की तरह जीवन में आनन्द को प्राप्त कर लेता है।

बंधुओं ! प्रिय मित्र सम्राट एक उपदेश से वैरागी बन गये। जब उनको लगा कि संसार असार है तब अपने पुत्र का राजतिलक करके उन्होंने संयम जीवन स्वीकार कर लिया, खूब तपस्या की और अन्त में आलोचना–निंदापूर्वक चौरासी लाख पूर्व की आयु पूर्ण करके वहां से महाशुक्र विमान में उत्पन्न हुए। इसलिये समझ लीजिये एक बार जीवन में यदि मोड़ आ जाता है तो कहां से कहां पहुंचना हो जाता है। बस, जीवन में मोड़ आना चाहिए, बदलाव आना चाहिए। यदि बदलाव आ गया तो मंजिल दूर नहीं रहेगी। पूज्य गुरुदेव फरमाया करते थे, एक व्यक्ति एक हलवाई की दुकान पर गया। उसने कहा, मुझे बेसन की मिठाई चाहिए। दुकानदार ने बेसन का घोल तैयार किया। मिठाई की तीन दिन बाद आवश्यकता थी। इतने में दूसरा व्यक्ति पहुंचा और कहा– मुझे बेसन के पकोड़े चाहिए, अभी चार घंटे के भीतर चाहिए! हलवाई ने सोचा कि तीन दिन बाद वाला काम बाद में करेंगे और उसने बेसन का जो घोल बनाया था, उसमें नमक, मिर्च, मसाले मिलाये और कढ़ाई में तेल डाल कर पकोड़े तैयार कर दिए। वैसे ही एक व्यक्ति, जिसने पाप इकट्ठा किया है, अशुभ अध्यवसाय से पाप कर्म के दलिक एकत्र किए हैं, यदि हवा के झोंके की तरह अध्यवसायों में परिवर्तन हो जाय तो वे ही कर्मदलिक शुभ अध्यवसाय से पुण्य के रूप में आ जाएंगे। इसी तरह जिसके पुण्य बन्धा है और अध्यवसाय यदि बदल गये तो शुभ अध्यवसाय के साथ जो पुण्य कर्म इकट्ठे किये हैं वे पाप रूप में परिणत हो जायेंगे। इसलिए बंधुओं, हमें सावधान रहने की आवश्यकता है। जो पाप को प्रकट करता है वह पाप करने से बचने का प्रयत्न भी कर पायेगा। यदि बचने का प्रयत्न करेंगे और भीतर रहे हुए पाप को प्रकट करके, अपने अंतर से प्रकट करके, अपनी आत्मा को शुद्ध कर लेंगे तो हमारी मुक्ति दूर नहीं है। हम कहते है कि क्षेत्र की दृष्टि से सिद्ध क्षेत्र यहाँ से लगभग सात झाझेरी है, किन्तु एक समय में हम वहां तक की यात्रा तय कर लेंगे, अन्यथा चाहे सिद्ध क्षेत्र में जाकर

भी आ जाएं तो भी वह दूरी तो वैसी की वैसी बनी रहेगी, भले ही सिद्ध भगवान् के बीच से होकर हमारी आत्मा निकल आए और हम सिद्ध भगवंतों के बीच से निकलकर आ गए हों किन्तु फिर भी वहां का जो आनंद है, वह हम नहीं ले पायेंगे, वह सिद्धि हमारे से उतनी ही दूरी पर रह जायेगी, इसलिए यहां हम करनी करें, एक बार सही करनी कर लें तो नर से नारायण हो सकते हैं। कहा भी है– *'पशु का हो तो पनैया, नर का कछु न होत ! एक बार नर करणी करे तो नर का नारायण होत।।'*

बंधुओं, इस स्थिति को सोचकर अपने भीतर के पुरुषार्थ को जाग्रत कर पाप पंक के प्रक्षालन द्वारा अपनी आत्मा को शुद्ध करने का हम प्रयत्न करें। 'उत्तराध्ययन सूत्र' में स्पष्ट कथन है कि आलोचना से विघ्नकारक और अनंत संसारवर्द्धक शल्यों का उन्मूलन हो जाता है; निन्दना से होने वाले पश्चाताप से व्यक्ति करणगुण श्रेणी को प्राप्त करता है और गर्हणा से जो अपुरस्कार प्राप्त होता है वह अनन्तघाती पर्यायों का क्षय कर देता है। हम सब अपने जाग्रत पुरुषार्थ से ऐसा करने में प्रवृत्त होंगे तो जीवन मंगलमय दशा को प्राप्त हो सकेगा।

☆☆☆

8.9.2000

वर्तमान में जीने का सुख

बड़े शहर की सड़कों पर चलना बहुत कठिन होता है। वाहनों व पैदल चलने वालों की भीड़ इतनी जबरदस्त होती है, कि व्यक्ति के बहुत संभलकर चलने के बावजूद भी एक्सीडेंट हो जाते हैं। शहरों में वाहनों के लिए एक व्यवस्था रहती है जिसे यातायात व्यवस्था कहते हैं। इसके अन्तर्गत वाहन सड़क के एक तरफ से आते हैं और दूसरी तरफ से जाते हैं। यदि यह व्यवस्था नहीं हो और किसी भी तरफ से वाहन आते–जाते रहें पैदल चलने वालों को और अत्यधिक असुविधा हो सकती है !

यह बाहर की व्यवस्था है, उसमें भी व्यक्ति को इतना संभलकर चलना पड़ता है। यदि संभलकर नहीं चले तो सही–सलामत अपने गंतव्य तक पहुंचना कठिन है ! कुछ ऐसी ही स्थिति हमारी अंदर की व्यवस्था की भी है। हम चिंतन करे कि हमने अपने अन्दर कितनी भीड़ कर रखी है। कितनी शंकाएं–कुशंकाएं, कितनी चिंताएं–दुश्चिंताएं हम अपने भीतर पालते रहते हैं। भले ही खाने–पीने आदि की कोई कठिनाई हमारे सामने नहीं हो, किन्तु भविष्य की कठिनाइयों और भविष्य की दुश्चिंताओं को पालने का हमारा मानस बना रहता है। या यों कहें कि हमारी एक आदत बनी हुई है, जिसे ज्ञानीजनों ने भय की संज्ञा दी है। आने वाले समय की चिंता में व्यक्ति घुलता रहता है। वह यह विचार नहीं करता है कि आने वाले समय की चिंता करके वह अपने वर्तमान को क्यों विषम बनाए ! जो वर्तमान क्षण हमें उपलब्ध हैं उसको यदि हम प्रसन्नता से भोग सकते हैं, उस क्षण को यदि हम प्रसन्नता से व्यतीत कर सकते हैं तो उससे बढ़कर जीवन का कोई और आनन्द हो ही नहीं सकता, न ही जीने की कोई कला हो सकती है। वस्तुतः हम निवास वर्तमान में करते हैं परन्तु जीना हमारा भविष्य में

होता है। यही हमारे जीवन की विशृंखलित अवस्था है कि हम रहते कहीं हैं, और हमारा जीना कहीं और होता है। यदि हम जहाँ पर रह रहे हैं वहीं पर जीना सीख लें, वर्तमान में रह रहे हैं तो वर्तमान में ही जीना सीख लें तो बहुत–सी समस्याओं का अंत हो जायेगा। यदि हमने वर्तमान में जीना सीख लिया तो आने वाले समय की दुश्चिंताओं से भी छुटकारा मिल जायेगा। आने वाले समय की कुशंकाओं को छोड़ देना चाहिये क्योंकि आने वाला समय जब आएगा तब जैसी परिस्थितियां होंगी, जैसी अवस्थाएं होंगी उनके आधार पर चिन्तन किया जा सकता है। अभी से हम कुछ सोच भी लें, किन्तु उस समय जैसी देश–काल–भाव की स्थिति होगी उसी के आधार पर उस समय के लिये निर्णय किया जा सकता है। फिलहाल वर्तमान का चिन्तन करें। यह चिन्तन करें कि वर्तमान जो सामने उपस्थित है, अच्छे से अच्छा उपभोग कैसे करें।

एक व्यक्ति भोजन करने के लिए बैठा है। थाल में भोजन भी परोसा हुआ है। वह परोसे हुए भोजन पर दृष्टिपात भी कर रहा है, किन्तु यह सोच रहा है कि आज यदि मैंने यह भोजन कर लिया तो कल क्या करूंगा, कल मुझे कैसा भोजन मिलेगा, इस पर मैं पहले विचार कर लूं। अरे भाई, कल कैसा मिलेगा उसका यदि विचार करोगे तो जीना हराम हो जाएगा, आज भी भूखे रह जाओगे। इसलिए भगवान् महावीर ने साधुओं को सावधान किया कि कल की चिंता अपने दिमाग में मत घुसाना कि कल रोटी मिलेगी या नहीं मिलेगी। आज जो मिल रहा है उसमें उपयोग रखो। कल की चिंता आज क्यों कर रहे हो ? जो वर्तमान में तुम्हें उपलब्ध है उसका उपभोग कर लो। आने वाला समय जब आएगा उस समय विचार किया जाएगा कि क्या करना है। आने वाले समय की चिंता से व्यक्ति जितना व्यथित होता है उतना वर्तमान समय से व्यथित नहीं होता। भूतकाल व्यक्ति को भ्रमित करता है, और भविष्यकाल भटकाता है, चिन्ताओं के घेरे में डालता है। एकमात्र वर्तमान ही उसे शांति की राह दिखाता है, किन्तु हम या तो भूतकाल में चले जाते हैं, ऐसा हुआ, वैसे हुआ, या हम दौड़ लगाते हैं भविष्य में। इसलिए या तो हम भ्रमित होकर रह जाते हैं अथवा दुश्चिंताओं में भटक जाते हैं। किन्तु शांति का जो आनंद आना चाहिए उससे हम अपने–आप को जोड़ नहीं पाते। जब भूतकाल की भीड़ और आने वाले भविष्य की भीड़ भी हमारे वर्तमान में चलती रहेगी, तब आप विचार कर लीजिए कि हम कैसे गति कर पाएंगे। भीड़ में क्या किसी को शांति मिल सकती है ? भूत व भविष्य की कल्पनाएं हमारे दिमाग में इतनी

भीड़ किये होती हैं कि वर्तमान में प्रवेश करने के लिए हमें कोई मार्ग ही नहीं मिल पाता है, पता नहीं क्या हो जाएगा ? क्या–क्या होता है ! आगे क्या होगा, इस बार क्या होगा ! न जाने कैसी–कैसी चिंताएं हम कर लेते हैं, जिन चिंताओं की गणना करना भी अशक्य है। अपनी पोजीशन की भी चिन्ता होती है। घर में लड़की बड़ी हो गई है, लड़का बड़ा हो गया है, शादी नहीं हो रही है, उसकी भी चिंता है। परिवार के लिए आने वाले कल की स्थिति क्या बनेगी, उसके लिए मकान, दुकान आदि की क्या व्यवस्था बन पाएगी ? ये सारी चिंताएं छोड़ो, वर्तमान में हम कैसे सुख–शांति से जी सकते हैं, इसकी चिंता करो। इस पर कुछ अपने–आप में अनुसंधान करने की स्थिति बन सके तो वैसा चिंतन करें। यदि वैसा चिंतन बन सकता है तो वर्तमान कभी कष्ट देने वाला नहीं हो सकता क्योंकि तब भविष्य मुझे शंकित नहीं करेगा, भविष्य के लिए मैं कुछ विचार ही नहीं कर रहा हूँ तो भविष्य मुझे बाधित करेगा ही क्यों ? आप कह सकते हैं कि यह कैसे हो सकता है ? यदि ऐसा ही है तो व्यक्ति को दीर्घ–द्रष्टा कैसे कहा जाता है ? क्यों कहा जाता है कि बहुत आगे की सोचकर चलना चाहिए ? आगे की सोचकर चलने की बात कही जाती है किन्तु आगे की सोचकर चलना, यह केवल हमारी कल्पनाओं के आधार पर ही हो सकता है। आप कितना ही आगे की सोचकर चलिए, क्या आने वाला भविष्य आपके हाथ में है ? यदि वर्तमान आपके हाथ में नहीं है तो आने वाला भविष्य कभी भी आपके हाथ में नहीं हो सकता परन्तु यदि वर्तमान की डोर आपके हाथ में है तो भविष्य की लगाम भी आपके हाथ में रहेगी। यदि अभी पतंग की डोर आपके हाथ में नहीं है तो क्या आप विश्वास करेंगे कि आने वाले समय में पतंग की डोर आपके हाथ में आ सकती है ? परन्तु यदि वर्तमान में पतंग की डोर आपके हाथ में है तो आप–अपने आप निश्चिंत रहेंगे कि भविष्य में उस पतंग को कैसे मोड़ना है, उसको ढील देनी है या खींचना है। तब की सारी योजना आप के हाथ में रहेगी।

तीर्थंकर देवों ने सहज जीवन की, सरल जीवन की बात कही है। वह सहज जीवन भविष्य और भूत को भूलकर एकमात्र वर्तमान में है। वर्तमान क्षण को सरल कहा गया है, वर्तमान क्षण को सहज कहा गया है। सात प्रकार के नयों में एक ऋजु–सूत्र नय है। ऋजु अर्थात् सरल, अर्थात् न भूत की चिन्ता है, न भविष्य की चिंता है। वर्तमान तुम्हारा है, वह वर्तमान में जीना सिखाता है।

वंधुओं, यदि आप अपने–आप को सहज बना लेते हैं, अपने–आप

को सरल बना लेते हैं और स्वयं को वर्तमान में उपस्थित कर लेते हैं तो आप अनुभव करेंगे कि आपके तनाव समाप्त हो गये हैं, आपकी चिंताए समाप्त हो गयीं हैं। तनाव कब होते हैं ? तनाव तब होते हैं जब भविष्य की दुश्चिंताएं माथे में घिर जाती हैं और उनकी भीड़ इतनी भर जाती है कि माथा हो जाता है छोटा और कल्पनाएं हो जाती हैं बहुत–सारी। बहुत–सारी कल्पनाएं आ जाएं तो क्या होगा ? मिट्टी के बर्तन को लक्ष्य कर पुराने समय में कहा जाता था कि जिस बर्तन में सेर भर पकाया जा सकता है उसमें यदि सवा सेर ऊर दिया जाए तो हंडिया फट जाती है। जैसे वहां हंडिया फटने की स्थिति बनती हैं, वैसे यहां सिर फटने की स्थिति बनती हैं। परन्तु हमारा मष्तिष्क इतना कच्चा नहीं है इसलिए फटता तो नहीं है किन्तु उसमें तनाव आ जाता है। यदि चमड़े की थैली या प्लास्टिक की थैली में समाई तक भरते जाएं तो जब तक वह सहज अवस्था में है तब तक तो ठीक है किन्तु अधिक भर देंगे तो उसमें भी तनाव आ जाएगा और यदि अत्यधिक तनाव आ जाय तो वह थैली फट जाएगी। इसी प्रकार यदि मस्तिष्क में तनाव के अतिरेक की स्थिति बन जाय तो माथे की नस फट जाती है ! हेमरेज किसलिए होता है ? लकवे की शिकायत क्यों हो जाती हैं ? इसलिये कि हम भीड़ बहुत इकट्ठी कर लेते हैं, और उस भीड़ में हम अपना मार्ग बना नहीं पाते हैं। वैसी स्थिति में व्यक्ति के लिए हेमरेज की अवस्था बन जाती है, लकवे की अवस्था बन जाती है। अतः यह आवश्यक है कि हम सही तरीके से जीना सीख लें। इसके लिए तीर्थंकर देवों ने हमें तीन सूत्र दिये हैं–आलोचना, निंदा और गर्हा। ये तीन सूत्र बड़े महत्त्वपूर्ण हैं। ये हमें भविष्य की चिन्ताओं से मुक्त करते हैं और भूतकाल की भ्रमणा से हमें स्वतंत्रता दिलाते हैं। इन्हें हम गइराई से विचारें।

भूतकाल में जो कुछ हो गया है उसको लेकर रोना नहीं है, क्योंकि जो हो चुका है उसे अनहुआ नहीं किया जा सकता। इसलिये भूतकाल में जो कुछ हो गया है उसका समाधान कर लिया जाए। भूतकाल में यदि कोई त्रुटि हुई है, उसका यदि समाधान नहीं हुआ है तो वही भविष्य के लिए दुश्चिन्ता बढ़ाने वाला होता है। यदि वर्तमान सही है और हम भूल नहीं कर रहे हैं तो भूतकाल की गलतियों को दोहरायेंगे नहीं, इसलिए वर्तमान की महत्ता है। लेकिन होता यह है कि हम वर्तमान में सही नहीं जी पाते हैं और इसलिए गलतियां कर देते हैं। वही त्रुटियां हमारे लिए अभिशाप बन जाती हैं और वे ही त्रुटियां भविष्य के लिए हमारे सामने दुश्चिंताओं के रूप में खड़ी हो जाती हैं। वे चिन्ताएं निरन्तर बनी रहती हैं और उन चिन्ताओं के

कारण व्यक्ति अपना जीवन सही तरीके से जीना प्रारम्भ ही नहीं कर पाता है। इसलिए बन्धुओं, कुछ क्षणों के लिए हम अपने–आप को भविष्य से अलग रखें और वर्तमान समय का सदुपयोग करने की तैयारी करें। इस प्रकार की यदि तैयारी होती है तो वह अपने–आप में शान्ति का सफर कराने वाली होगी और आनन्द की मंजिल तक पहुंचाने वाली बन सकेगी !

मेघकुमार की कथा आप जानते हैं। मेघकुमार ने भूतकाल की अवस्थाओं का चिंतन किया कि मैं भूतकाल में राजकुमार था और राजकुमार था तो उस समय मेरा बहुत सत्कार और सम्मान हुआ करता था किंतु वर्तमान में ठोकर लग रही है। क्या ऐसा ही मेरा भविष्य भी होगा ? क्या इस के आधार पर मैं साधना कर पाऊंगा ? वे भविष्य को पकड़ नहीं पाए और विचलित हो गये। हम भी जिस कार्य में वर्तमान में लगे हुए हैं यदि उस कार्य में रम जाएं तो पूरी एकाग्रचित्ता के साथ कार्य सम्पन्न कर सकते हैं। आप देखिये, एक व्यक्ति जो खाता–रोकड़ मिलान करने के लिए बैठा है, थोड़ी–सी कहीं पर गलती आ रही है और उसे लग रहा है कि कोई इंस्पैक्टर कभी भी इस रोकड़ की जांच के लिए उपस्थित हो सकता है तो वैसी स्थिति में वह रोकड़ मिलान में कितना तत्पर हो जाता है ? उस समय वह पूरी तरह से एकाग्रचित्त हो जाता है इधर उधर की बातों की ओर उसका ध्यान नहीं बंटता है। पूरी तन्यमता के साथ वह उसमें लगा होता है और काम के साथ एकमेक हो जाता है। एकमेक की अवस्था बनती है तो समस्या का समाधान भी उसे प्राप्त हो जाता है और जो त्रुटि रही होती है उस त्रुटि को दूर करने में वह समर्थ हो जाता है। यदि वह रोकड़ का काम भी करता रहे और उधर आने वाले ग्राहकों से भाव का मोल–तोल भी करता रहे, दूसरों के साथ लेन–देन भी करता रहे तो क्या वह रोकड़ की गलती पकड़ पायेगा ? नहीं। जितने भी वैज्ञानिक हुए हैं उन्होंने इधर–उधर की दुश्चिंताओं को छोड़कर जो साध्य था उसके पति स्वयं को समर्पित किया तभी वे साध्य को प्राप्त कर पाये थे। अनेक प्रकार की खोजें इसीलिये संभव हुई क्योंकि खोज करने वाले खोज में सुधबुध खो बैठे थे। तीर्थंकर देव भी हमसे यही कहते हैं कि यदि खोज करनी है तो आप इधर–उधर की चिंताओं को गौण करो और वर्तमान को समझकर एकाग्रचित्त होकर अपनी खोज को प्रारम्भ कर दो।

बिना सामायिक बैठे तो हम कल्पनाएँ करते ही हैं, सामायिक में बैठे हुए भी कल्पनाएं करते हैं ? कभी भूत की अवस्थाएं हमारे दिमाग में आती हैं तो कभी भविष्य की कल्पनाएं। भविष्य की चिंताए जब हमारे सामने

उभर कर आ जाती हैं तब सामायिक से जो आनन्द प्राप्त होना चाहिए वह हम ले नहीं पाते हैं। इसलिए प्रभु महावीर ने आचारांग सूत्र में कहा है– 'मज्झत्थो निज्जरापेही' निर्जरा की आकांक्षा करने वाले माध्यस्थ बनें, न भूत में रहें, न भविष्य में रहें किन्तु वर्तमान में, अपने–आप में, उपस्थित हो जाएं।

हमारे भीतर तीन प्रकार की नाड़ियाँ हैं–इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना। अधिकांशतया हम इड़ा और पिंगला का अनुभव करते रहते हैं किन्तु सुषुम्ना की अनुभूति बहुत कम हो पाती है और सुषुम्ना की अनुभूति बिना सरल बने सहसा हो नहीं सकती। आपके भीतर तनाव है तो आप अपने–आप को तनावरहित बनाइये। शवासन में आ जाइये, चाहे सोये हुए हों या बैठे हुए हों, बैठे हुए भी, खड़े हुए भी शवासन हो सकता है। आप शरीर को शिथिल कर सकते हैं। आपने शरीर को शिथिल कर लिया तो फिर आप देखिये कि थोड़े ही समय में आपको सुषुम्ना की अनूभूति हो सकती है। आप माध्यस्थ हो जाएंगे। उस स्थिति में अतिमन्द रूप से कषायों का वेदन हो सकता है, किन्तु तीव्र विपाक रूप से उस समय कषायों का वेदन हमारे अनुभव में नहीं आयेगा। न राग की अवस्था रहेगी, न द्वेष की। शांत–प्रशांत अवस्था बन जायेगी। राग और द्वेष उदय भाव की अवस्था से चलेंगे तो भी इतनी गौण अवस्था में चलेंगे कि उनकी अनुभूति सहसा हो नहीं पाएगी। ऐसे क्षण शांति और आनन्द के होते हैं। शिथिल बनने की बात हम करते जरूर हैं, किंतु अपने–आप को शिथिल बना नहीं पाते हैं। हमारे भीतर कहीं न कहीं खिंचाव बना ही रहता है और वही हमारी परेशानी का कारण होता है और वही हमें साधना में लगने नहीं देता है। वह खिंचाव या तनाव कई प्रकार का हो सकता है। पड़ौसी का हो सकता है, व्यापार का हो सकता है, यहां बैठकर भी आप अपने मस्तिष्क में खिंचाव ला सकते हैं, किसी की सुनी हुई बात से भी खिंचाव आ सकता है। ऐसा खिंचाव ही तनाव पैदा करता है, वही शांति से जीने नहीं देता है।

एक व्यक्ति लगभग 22 वर्षों से एक प्राइवेट कम्पनी में काम कर रहा है। उसने तन तोड़कर 22 वर्षों तक वहां सर्विस की है। उसने कभी यह विचार ही नहीं किया कि उसके वेतन की क्या स्थिति है। कम्पनी से जो प्राप्त हुआ, वह ले लिया। 22 वर्षों के बाद उसने वेतन–वृद्धि की बात की। कम्पनी ने कुछ वेतन बढ़ाया किन्तु उसको संतोष नहीं हुआ। उसने कहा और बढ़ना चाहिए। बात बढ़ जाती है और तनाव की स्थिति बन जाती है। अब विचार कीजिये कि यह तनाव क्यों पैदा हो गया। जीवन 22 वर्षो से भी बसर हो रहा था, 22 वर्षों में तनाव की स्थिति नहीं बनी थी किन्तु

अब जहां उसके साथ खिंचाव की स्थिति बनी कि तनाव भी बढ़ गया। यह तनाव प्रारम्भ में बहुत सामान्य लगता है किन्तु बढ़ते–बढ़ते वात इतनी बढ़ जाती है कि व्यक्ति का पूरा मनोविज्ञान ही बदल जाता है। उसे वह अपनी पोजिशन का प्रश्न बना लेता है। वही पोजिशन का प्रश्न फिर उसे झुकने नहीं देता है, नमने नहीं होता है। मेरी बात कैसे नहीं रहे ? मेरी बात रहनी चाहिए और उस बात के लिए वह कुछ भी कर गुजरने के लिये तैयार हो जाता है। समाज में, परिवार में कितने भी संघर्ष होते हैं उनका मूल कारण यदि आप कभी ढूंढ़ेगे तो आपको स्पष्ट नजर आयेगा कि यही खिंचाव, यही तनाव परिवार और समाज में अशांति पैदा कर देता है और कई बार पारिवारिक विघटन का कारण बन जाता है।

अयोध्या में सारी व्यवस्थाएं सामान्य रूप से चल रही थीं। महाराज दशरथ ने घोषणा कर दी थी कि कल राम का राज्याभिषेक किया जाएगा। मंथरा ने कैकेयी से कहा–स्वामिनी, यह क्या हो रहा है ? कैकेयी तब तक शांत थी, उसे किसी प्रकार की दुश्चिंताएं नहीं थीं। कैकेयी ने कहा जो हो रहा है वह अच्छा हो रहा है, राम का राज्याभिषेक होने वाला हैं, बहुत अच्छी बात है, होना ही चाहिए। राम महाराज दशरथ के बड़े पुत्र हैं अतः उनका तो राज्याभिषेक होना ही है। मंथरा ने भड़काया–स्वामिनी, आप नहीं समझ रही हैं। आप बड़ी भोली हैं। यदि राम का राज्याभिषेक हो जाता है तो कौशल्या राजमाता हो जायेगी और उनके सामने आप दासी के रूप में हो जाओगी। आप अपना विचार कीजिये और भरत की चिंता कीजिये कि भरत की क्या अवस्था रहेगी ? वे तो कल राम के सामने हाथ जोड़ने वाले सामंत के रूप में रह जाएंगे। कभी आपने यह सोचा है कि भरत का भविष्य क्या हो जायेगा ? कैकेयी कहने लगी कि तू क्या बातें कर रही हैं, राम और भरत एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। तू ऐसा क्यों विचार कर रही है ? तो मंथरा ने कहा–स्वामिनी आप नहीं जान रही हैं, अभी आपने केवल राजमहलों की चारदीवारी में ही जीना सीखा है किंतु यहाँ षड्यंत्रकारी नीति चल रही है और उसके साथ ही राम का राज्याभिषेक हो रहा है। यह कल का कल ही राम का राज्याभिषेक क्यों हो रहा है ? कैकेयी कहने लगी कि सम्राट की तबीयत अनुकूल नहीं रहती है इसलिए वे चाहते हैं कि वे अपने उत्तरदायित्व को हल्का कर लें। मंथरा ने कहा कि स्वीमिनी आपको कैसे समझाऊँ। जब मंथरा के तर्क कैकयी के सामने बार–बार आये तो कैकेयी का दिमाग भी थोड़ा सा सोचने के लिए बाध्य हुआ और वह भविष्य की चिंताओं में डूबने लग गयी कि मेरे भरत का भविष्य क्या होगा ? भविष्य की उस दुश्चिंता में

उसका वर्तमान का सुख समाप्त हो गया। दशरथ से जो उसे वचन प्राप्त थे उनके आधार पर उसने दो वर मांग लिये। परिणामस्वरूप राम को राज्याभिषेक के स्थान पर वनवास प्राप्त हुआ और राजा दशरथ का देहावसान हो गया। इस प्रकार भविष्य के दुख की कल्पनाएं उसके वर्तमान के सुख को समाप्त करने वाली बन गई। बंधुओं, ऐसी एक नहीं अनेक घटनाओं से आप परिचित होंगे और आपका स्वयं का भी अनुभव होगा कि जव–जब आप दुश्चिंताओं में चले गये या भविष्य की कल्पनाओं में डूब गये तब आपने अपने वर्तमान को भी बिगाड़ लिया। इसके विपरित आप यह भी जानते हैं कि जो भूत–भविष्य की चिंताओं के बजाय वर्तमान की चिंता करता है, वर्तमान को साधता है वह सुखी होता है क्योंकि वर्तमान ही साथ होता है, उसी में किये गये कर्मों का कोई फल हो सकता है। भूत तो मर चुका होता है और भविष्य अभी पैदा नहीं हुआ होता है। जो मर गया जो पैदा ही नहीं हुआ वह क्या फल देगा ? नंदन मुनि से संबंधित प्रकरण इस विनय में मार्गदर्शक है। उन्होंने यही सत्य समझ कर वर्तमान को साधा और तीर्थंकर नामकर्म का उपार्जन कर लिया।

नंदन राजकुमार के पिता चन्द्रानगरी के राजा जितशत्रु और महारानी भद्रा ने निर्ग्न्थ प्रवज्या स्वीकार करने के पूर्व नंदन राजकुमार का राज्याभिषेक कर दिया था। नंदन ने भी पोट्टिल आचार्य के उपदेश से प्रभावित होकर अपने पुत्र को राज्यभार संभला कर संयम मार्ग ग्रहण कर लिया था। उन्होंने यह अनुभव किया था कि अनंतकाल से परिभ्रमण करते हुए उनकी आत्मा ने मनुष्य जन्म का जो अलभ्य लाभ प्राप्त किया था उसका सदुपयोग उन्हें अपने वर्तमान जीवन में सभी प्राणियों के साथ मैत्री भाव का निर्माण करने में कर देना था। सभी जीवों को साता और शांति पहुंचाने के उनके वर्तमान काल के अध्यवसायों ने तीर्थंकर नाम कर्म का उपार्जन करने में उनकी सहायता की। आप स्वयं विचार कीजिये कि तीर्थंकर देवों ने आत्मोद्धार की कितनी सरल विधि हमें बताई है परन्तु हम अध्यवसायों की शुद्धि में नहीं, औपचारिकताओं की पूर्ति में ही अपनी शक्ति, ज्ञान और प्रयासों को लगा देते हैं। पर्वो की मूल भावना विलुप्त हो जाती है तथा पर्व औपचारिकताओं की पूर्ति के रूप में ही मना लिए जाते हैं, चाहे वे पर्व रक्षावंधन हों या दीपावली या संवत्सरी जैसा आत्मकल्याण का पर्व हो। हमें यह भली प्रकार समझ लेना चाहिए कि महत्त्व भावना का ही होता है। प्रभु महावीर भी कहते हैं– जिसके प्रति मनोमालिन्य है और यदि उससे क्षमायाचना करने के लिए तुम्हारे मन में विचार भी वन गया और तुमने अगर

एक कदम भी आगे बढ़ाया और यदि वहीं पर तुम्हारा आयुष्य पूर्ण हो जाता है, जीवन लीला समाप्त हो जाती है तो भी तुम्हारी आराधना हो जाएगी, क्योंकि तुमने मानस बना लिया था कि जिसके साथ मेरे वैर–विरोध है, मनोमालिन्य है, मैं उसके पास पहुंचूंगा और क्षमायाचना कर लूंगा। इस प्रकार क्षमायाचना करने के लिए एक कदम आगे बढ़ाया और उसी समय आयुष्य पूर्ण हो गई तो शास्त्रकार कहते हैं कि तुम्हारी क्षमायाचना स्वीकार हो गई, भले वह सामने वाले के पास पहुंचे या नहीं पहुंचे। वैसे ही तुम्हारे मन–मस्तिष्क में यदि वैर–विरोध को विस्मृत करने की अवस्था बनती है और क्षमायाचना की भावना बनती है और पीछे की बातें तथा पीछे के कषाय, जो दबे हुए थे, वे समाप्त हो जाते हैं तथा उनके फिर से उभरने की स्थिति भी समाप्त हो जाती है तो शास्त्रकार कहते हैं कि वहां आराधना हो जाती है। परन्तु जो विस्मृत कषायों को पुनः खड़ा करता है वह प्रायश्चित्त का भागी बनता है। एक बार जो कषाय समाप्त हो चुका है उसी कषाय को यदि वह प्रदीप्त करना चाहता है तो वह अपराधी बनता है, दोष का भागी बनता है इसलिये प्रायश्चित्त का भी भागी बनता है।

नंदन मुनि की आत्मा ने अपने वर्तमान क्षण को संभाल कर और उस वर्तमान क्षण की आराधना करके तीर्थंकर नामकर्म का उपार्जन किया और जब अन्तिम समय नजदीक आया एवं उन्होंने देखा कि उनका शरीर ज्ञान, दर्शन और चारित्र की आराधना में उतना समर्थ नहीं रहा था तब उन्होंने विचार किया कि मुझे इस शरीर से अंतिम परिणाम को प्राप्त कर लेना चाहिए। वे आत्म–आलोचना में पहुंचे, निन्दा और गर्हा की अवस्था में पहुंचे, उन्होंने इस पर भी विचार किया कि यदि मेरे निमित्त से ज्ञान के किन्हीं आचारों में कोई अतिचार लगा हो, दर्शन में शंका की स्थिति बनी हो, उसमें मैंने कहीं पर भी आकांक्षा जोड़ ली हो, मेरे निमित्त से किसी जीव को कष्ट पहुंचा हो, असत्य का आचरण हो गया हो, किसी की बिना दी हुई वस्तु मैंने ग्रहण कर ली हो, मनसा–वाचा–कर्मणा मैथुन परिकल्पना बन गई हो, परिग्रह का कोई भी सुराख मूर्च्छाभाव में प्रवेश करने वाला बन गया हो तो मैं उनसे मुक्ति हेतु प्रायश्चित्त करता हूं। इस प्रकार उन्होंने 18 पापों की आलोचना की, चारित्राचार की आलोचना की, तपाचार की आलोचना की और आलोचना, निन्दा, गर्हा करके, अपने आचार का शुद्धिकरण करके, अंतिम समय में संलेखना संथारा की स्थिति प्राप्त की। उन्होंने विचार किया कि एगोमे सासओ अप्पा–मेरी आत्मा अकेली है, राग, द्वेष, द्वन्द्व की अवस्था से ऊपर है, शुद्ध है तथा ज्ञान, दर्शन, चारित्र से युक्त है। इस प्रकार से

एकत्व भाव की साधना करके, उत्कृष्टभाव के आधार पर उन्होंने 60 दिन तक संलेखना संथारा की आराधना की। 60 दिन का संथारा करके अपने अंतिम समय में पूर्ण सजगता के साथ मृत्यु का वरण करके, सारे दूषण त्याग कर पण्डित मृत्यु का वरण किया और नरभव का, मनुष्य भव का आयुष्य पूरा किया। पुष्पोत्तर विमान की देव शैया पर उपस्थित होकर एक अंतर मुहूर्त में उपना भव्य रूप प्राप्त करके वे विचार करने लगे–अहो मैं कहां आ गया ? मैं कौन हूं ? इस अवस्था में यहां कैसे आ गया ? किन कारणों से यहां पहुंचा ? उसी के आधार पर जब अपने पिछले समय के बारे में चितन किया और अवधि ज्ञान का प्रयोग करके उन्होंने पता लगाया कि जो चारित्र आराधना की गई थी, जो ज्ञान–दर्शन की आराधना की गई थी तथा उस ज्ञान, दर्शन और चारित्र की आराधना स्वरूप जो भाव रहा था उसी कारण से वे उस पुष्पोत्तर विमान में उपस्थित हुए थे। उनके मन में निर्ग्रन्थ श्रमण संस्कृति के प्रति, वीतराग वाणी के प्रति अहोभाव उत्पन्न हुआ। अहो, यह निर्ग्रन्थ प्रवचन कितना सत्य है। जैसा तीर्थंकर देव ने कहा है उसमें कहीं पर कोई शंका की गुंजाइश नहीं है ! उसमें कोई शंका नहीं है। वह तो अपने–आप में सिद्ध हैं, परम शुद्ध है। इस प्रकार से उस वीतराग निर्ग्रन्थ प्रवचन के प्रति उनके मन में अहोभाव पैदा हुआ।

बंधुओं, एक बार भी जिन्होंने आलोचना करके, आलोचना–निंदा–प्रतिकमण करके अपनी आत्मा को विशुद्ध कर लिया उनमें अहोभाव पैदा होता है। ऐसे ही साधु के लिए प्रभु–महावीर ने कहा है कि एक वर्ष का संयम जीवन व्यतीत हो जाए, वह राग, द्वेष की अवस्थाओं से रहित रहे और आलोचना, निंदा, गर्हा की स्थितियों को प्राप्त करके यदि वह शुद्ध हो गया हो तो वह साधना में सफल होता है। तब वह एक वर्ष के साधु जीवन में सर्वार्थसिद्ध अनुत्तर विमान के तेज को भी लांघ जाता है। तब वह परम् आत्मसुख, एवं परम आत्मशांति का अनुभव करता है।

इसलिये हम वर्तमान में जीना सीखें और वर्तमान को सार्थक करें क्योंकि भविष्य का भवन वर्तमान की नींव पर ही बनेगा। इस मनुष्य भव को सार्थक करने का इससे अच्छा कोई और मार्ग है भी नहीं। इस सत्य को समझते हुए आगे बढ़ेंगे तो जीवन धन्य बन सकेगा।

☆☆☆

9.9.2000

एक मुखिया सब सुखिया

प्रभु महावीर से प्रश्न किया गया–भगवन् ! सामायिक से जीव को किस फल की प्राप्ति होती है ? तो प्रभु महावीर ने फरमाया–साधक सावद्य योगों से विरक्त हो जाता है। प्रश्न बहुत संक्षिप्त है और उत्तर भी सूत्र रूप में है। सामायिक तो हम सभी कर रहे हैं, पर सामायिक यथार्थ में हो रही है या नहीं हो रही है– इसका निर्णय आपको प्राप्त करना है और वह अपने से ही प्राप्त किया जा सकता है। तब आप चिन्तन करें कि सामायिक का जो फल बतलाया गया है–सामायिक की जो अनुभूति बतलाई गई है–सावद्य योगों से दूर हटना, सावद्य योगों से विरक्त होना, वैसा हो पा रहा है या नहीं ? हम अपने–आप से सावद्य योगों को दूर कर पाये हैं या नहीं ? हमारे योगों से सावद्य अवस्था दूर हो पाई या नहीं, या अभी तक सावद्य अंश चल रहा है ? यदि सावद्य भावों से हमने अपने योगों की निवृत्ति नहीं की है तो सामायिक नहीं हो रही है, क्योंकि वस्त्र सामायिक नहीं है, वस्त्र को द्रव्य–सामायिक कहा गया है। जिस स्थान पर बैठकर सामायिक की जाती है उसे क्षेत्र सामायिक कहते हैं। जिस काल में सामायिक की जाती है वह काल–सामायिक है किन्तु भावों में जब सावद्य योगों से विरक्ति नहीं की, तब तक भाव–सामायिक नहीं हो पायेगी। यदि हमारे योग सावद्य नहीं हैं, उनमें से सावद्य भाव अलग हट गया है तो ही यथार्थ में भाव–सामायिक हमारे जीवन में घटित हो पायेगी।

आप कहेंगे सावद्य किसे कहा जाए ? सावद्य का अर्थ होता है वद्य सहित। वद्य का अर्थ होता है हिंसा, एक हिंसा सहित विचार। हिंसा सहित परिणति यदि हमारे योगों की हो रही है, हिंसा का भाव जहां जुड़ा हुआ है वहां पर सामायिक घटित नहीं हो सकती। सामान्यतः लोग सामायिक

करना चाहते हैं। परन्तु कई युवा सामायिक से परहेज भी करते हैं। इसमें समझने की बात यह है कि यदि जीवन जीना है तो सामायिक भी उसका अनिवार्य अंग है। मुहपत्ती लगाना या चद्दर ओढ़ लेना, इस संबंध में मैं आपसे कह चुका हूं कि जब तक भावों में सामायिक नहीं है तब तक सामायिक केवल द्रव्य–सामायिक होगी। किन्तु यदि समाज में, परिवार में जीना है तो प्रत्येक व्यक्ति को भाव–सामायिक करनी होगी। बिना ऐसी सामायिक के, ऐसी साधना के न वह सही तरीके से परिवार में जी सकता है और न ही समाज के धरातल को सुव्यवस्थित रख सकता है। प्रश्न हो सकता है कि बहुत–से व्यक्ति सामायिक नहीं करते हैं, जैनी जितने हैं वे भी सभी सामायिक नहीं करते हैं और जो अजैनी हैं उनके लिये तो सामायिक का कोई प्रसंग ही नहीं है। इस संबंध में दो बातें हैं। एक सामायिक समझपूर्वक होती है और एक सामायिक कुछ अंशों में होती भी है किन्तु उसमें समझ नहीं होती है। सामायिक का अर्थ हम जितना ग्रहण करते हैं उससे कहीं अधिक गूढ़ और व्यापक है। उस दृष्टि से सामायिक करने के लिए हमें वह अर्थ समझने की आवश्यकता रहेगी।

पहले एक सामयिक प्रश्न पर विचार करें। आज परिवार एवं समाज की यह दयनीय दशा किन कारणों से हो रही है ? बहुत प्रयत्न किये जाते हैं, किंतु उनके बावजूद भी निष्कर्ष नहीं निकाले जा सकते हैं। यदि सरकार के साथ ऐसा कुछ हो तो वह आयोग गठित कर देती है कि आयोग निष्कर्ष निकाले पर ऐसे आयोग में बैठने वाले किस तरह के और कैसे निष्कर्ष निकालते हैं, वह भी आपसे छिपा हुआ नहीं है। यथार्थ में परिवार और समाज की दयनीय दशा का कारण स्वयं व्यक्ति है। यदि व्यक्ति स्वयं पहल करे और अपने दायित्वों का बोध करे, अपने कर्तव्यों की अनुभूति करे कि मेरा क्या दायित्व होता है मेरा क्या कर्तव्य होता है तो समस्याओं के समाधान का मार्ग खुल सकता है। सामायिक नहीं करने वाले या सामायिक से परहेज करने वाले अधिकांशतया यह कहते हुए मिलते हैं, 'महाराज, क्या पड़ा है सामायिक में ? 48 मिनट तक हमें बोरियत हो जाती है। 48 मिनट निकालना हमारे लिए भारी हो जाता है।' और जिन्हें हम सामायिक करते हुए देखते हैं, उनका जब पारिवारिक रूप और समाज के क्षेत्र में उनकी छवि देखते हैं तो उससे लगता है कि सामायिक नहीं करना ही अच्छा है। एक तरफ हम मुहपत्ती लगा कर सामायिक करते हैं और दूसरी तरफ घर पर पहुंचते ही क्लेश–कंकास खड़ा कर देते हैं। मुहपत्ती खुले नहीं उतनी ही देर है। जैसे ही मुहपत्ती उतरी कि उसके बाद व्यक्ति

स्वतंत्र हो जाता है। घर में बंधी गाय की हालत जानते हैं आप ? वह एक खूंटे से बंधी है और दूसरी तरफ गाय के लिए चारा और बांटा तैयार पड़ा है। गाय को खूंटे से खोला नहीं कि क्या स्थिति बनती है ? गाय की रस्सी खोलने की देर है, जैसे ही रस्सी खुली कि गाय लपक कर चारे और बांटे की ओर चली जाती है। आज तो बच्चे भी यह कह देते हैं, किंतु आने वाली भावी पीढ़ी शायद यह नहीं जानेगी कि गाय चारे और बांटे की ओर लपक कर जायेगी क्योंकि वह न तो गाय को और न ही चारा–बांटा देख पायेगी। उसके लिए अपने पूर्वजों से पूछना ही रह जाएगा कि गाय क्या होती है और गाय के लिए चारा और बांटा क्या होता है ?

आज कहा जाता है कि अमेरिका में बहुत–से व्यक्ति और बहुत–से युवा नहीं जानते कि गाय क्या होती है। अमेरिका कोई भी यह नहीं जानता हो ऐसी बात नहीं है। पर बहुत–से ऐसे हैं जो गाय को नहीं जानते। शास्त्रकारों ने नारिकेलद्वीप का उदाहरण देकर बताया है कि नारिकेल द्वीप में नारियल ही वहां के लोगों का खाना होता है। उनका चावल के प्रति या गेहूं के प्रति न राग भाव है, न द्वेष भाव है, क्योंकि वे न चावल को जानते हैं, न गेहूं को जानते हैं।

भाई शांतिलालजी चौरड़िया अमेरिका जा रहे थे। उन्होंने बतलाया कि वहां के लोग रोटी खाना ही नहीं जानते। खाना तो दूर, रोटी बनाना भी नहीं जानते। संसार अवस्था में रहते हुए मैं असाम गया था। वहां असाम के एक भाई थे, उन्होंने कहा—सबसे पहली बार जब हम बीकानेर पहुंचे और वहां पर गेहूं की रोटियां हमारे सामने आयीं तो हमने पूछा कि यह क्या चीज है, क्या यह भी खाने की चीज है ? क्योंकि असमियों के लिए, बंगालियों के लिए मछली और भात ही भोजन है। अलग–अलग क्षेत्रों का अलग–अलग भोजन होता है। उनको भात और मछली खाने को मिल जाए तो मानों उनको व्यंजन मिल गये। वहां पर जब उन्होंने रोटियां खायी तब उन्होंने पूछा—यह किससे बनती है ? उन्हें बताया गया कि गेहूं से बनती है तो वह गेहूं का आटा साथ में ले आये। वे घर आये और घर जाने पर उन्होंने सोचा कि हम भी रोटी बनाएं। रोटी बनानी आती नहीं थी तो जिस प्रकार चावल को बर्तन में पानी के साथ डाल दते हैं वैसे ही पानी गरम किया और उसमें आटा डाल दिया। काफी देर तक देखते रहे, किन्तु रोटी बनी नहीं। रोटी बनती क्या ? बीकानेर के डॉक्टर गांधी बहुत दिनों तक इजराइल में रहे। उन्होंने बतलाया कि वहां लोग रोटी बनाना नहीं जानते। जिस प्रकार डबल रोटी बनाते हैं उसी प्रकार वहां आटे को गूंध कर

लम्बे–लम्बे खुरपों की शक्ल जैसे साधन पर उसे लगा दिया जाता है और आंच पर उन खुरपों को सेंक लेते हैं। उसके बाद उनके टुकड़े करके खाने के काम में लेते हैं।

वन्धुओं, कहने का आशय यह है कि उन्हें गेहूं की रोटी बनाना और खाना नहीं आता। अमेरिका में गेहूं की रोटी उनके सामने आयी तो सोचने लगे, इसे खाएं कैसे ? यह तो बहुत बड़ी है हमारा मुंह छोटा है। भारत के वच्चे को इस पर हंसी आ सकती है, क्योंकि यहां रोटी खाई जाती है परन्तु जिसने नहीं जाना उसके लिए आश्चर्य की बात है। वैसे ही आने वाले समय में कहीं ऐसा न हो कि कई बच्चों के लिए गाय, चारा और वांटा जैसी चीजें आश्चर्यकारी बन जाएं।

वन्धुओं, हमें चिन्तन करने की आवश्यकता है कि यदि हम सामायिक करना चाहते हैं तो सामायिक की जो प्रतिक्रिया होती है उससे कैसे बचा जाए। आज युवा कहते हैं कि किस रूप में सामायिक की आराधना करें, क्योंकि जब हम मुहपत्ती खोलते हैं तब जैसे गाय की रस्सी खोलते ही गाय वांटे तरफ दौड़ती है वैसे ही मुंहपत्ती खुलने पर सामायिक करने वाला परिवार के सदस्यों पर टूट पड़ता है। उसे सामायिक करते हुए घर की सारी बातें ध्यान में रहती हैं कि किसने कहां गड़बड़ की और सामायिक पूरी होते ही वह दूसरों पर यह कहता हुआ टूट पड़ता है कि तुमने ऐसा कैसे कर दिया, और घर में क्लेश खड़ा हो जाता है। वस्तुतः भाव–सामायिक के अभाव में ही ऐसा हो पाता है। पर प्रतिक्रिया करना उचित नहीं है।

वन्धुओं, प्रतिक्रिया प्रकट करना सरल है कि सामायिक करने वाले में यदि इतनी भी सहन शीलता नहीं है, तो उसने क्या सामायिक की ? ऐसी प्रतिक्रिया करने वालों को मैं परामर्श देता हूं कि पहले वे अपने स्वयं के जीवन में शुद्ध सामायिक करके एक आदर्श उपस्थित करें। आदर्श उपस्थित करने के पश्चात् ही दूसरों को सुधारने का प्रयत्न करें। हम खुद तो सुधरें नहीं, पर दुनिया को सुधारने के लिए कमर कसकर खड़े हो जाएं, तो यह हमारे लिए दुविधा की स्थिति बन जाती है। सबसे पहले व्यक्ति को अपने स्वयं पर दृष्टि डालनी चाहिए कि मैं कहां खड़ा हूं। यदि वह स्वयं को ठोस धरातल पर खड़ा पाए तो ही अपने इर्द–गिर्द निगाह दौड़ाने की कोशिश करे अन्यथा उसका परिश्रम मात्र प्रतिक्रिया तक ही सीमित रह जायेगा। उदाहरण के रूप में व्यक्ति यह सोचे कि मेरे परिवार और मेरे निकट में कौन–से व्यक्ति हैं, उनका मेरे प्रति कैसा व्यवहार है और मेरा उनके प्रति कैसा व्यवहार है। जव तक वह इसकी समीक्षा नहीं करता, जव

तक इनके प्रति वह सजग नहीं होता, तब तक वह परिवार के दायित्व से अपने–आप को सही रूप में जोड़ नहीं पाएगा।

सामाजिक और पारिवारिक सोच को यदि हमें बनाए रखना है तो हमें तीन सूत्र अपनाने होंगे। इन तीन सूत्रों की आराधना हो जाए तो परिवार में कभी ऊंची–नीची स्थितियां नहीं बन पाएंगी। पहला सूत्र है सह–अस्तित्व। दूसरा सूत्र है सहिष्णुता। तीसरा सूत्र है प्रामाणिकता। ये तीन सूत्र यदि हमारे जीवन में अवतरित हो जाते हैं तो मेरे खयाल से, परिवार और समाज में जो तनाव के कारण बन जाते हैं, वे समाप्त हो सकते हैं और हमारे जीवन में सामायिक की सच्ची आराधना की स्थिति बन सकती है।

इन तीन सूत्रों को यदि अपनाते हुए चलोगे तो जब कभी भी सामायिक करने बैठोगे तो अपने जीवन में कोई भी अशांति की अवस्था नहीं पाओगे। इस प्रकार फल होगा–सावद्य योग से निवृत्ति, अर्थात् अशुभ योग से निवृत्ति। इसका तात्पर्य हुआ कि हमारे मन में किसी प्रकार के अशुभ विचार प्रकट नहीं होने चाहिए। यदि अशुभ विचार प्रकट होते हैं तो वह सामायिक शुद्ध नहीं कही जा सकती। परन्तु सावद्य योगों को टालने में सफलता तभी मिल सकती है जब हमारी पूर्वभूमिका सही हो। बहुत बार कहने में आता है कि पूर्णिया श्रावक की पत्नी जब बिना पूछे पड़ोस के घर से छाना लेकर आ जाती है तो पूर्णिया श्रावक के सामायिक की आराधना विचलित हो जाती है। अब आप स्वयं विचार कर लीजिए। परिवार को देखिये, अपने इर्द–गिर्द देखिये। वहां तो एक छाना बिना पूछे आ गया था जिसका वैसा परिणाम निकला, पर आज हमारी क्या दशा हो रही है। क्या इस स्थिति में वस्तुतः हम सामायिक की आराधना कर पाएंगे ? यदि हम सामायिक के प्रसंग को लेकर विचार करें और कैकेयी के इस सोच पर भी ध्यान दें कि यदि राम अयोध्या के राजा बन जायेंगे तो मेरी और भरत की क्या स्थिति रहेगी ? कैकेयी का ऐसा सोच अपने–आप में श्रेष्ठ था या नहीं ? इसके उत्तर में ही सामायिक का उत्तर भी आ जायेगा। यदि हम किसी की सम्पत्ति पर अपना अधिकार जमा लेते हैं तो क्या यह उचित हैं ? पर आज के युग में ऐसी अवस्था चल रही है।

आप इस कहावत से परिचित होंगे–जिसकी लाठी उसकी भैंस। अर्थात् लाठी जिसके हाथ में, भैंस भी उसी की। दृष्टांत है कि एक ग्वाला भैंस लेकर चला जा रहा था; तभी सामने से एक व्यक्ति आ गया जो लठैत था, इसके हाथ में लाठी थी, उसने जमीन पर लाठी को पटकते हुए ग्वाले

से कहा कि भैंस छोड़ दे। भैंस नहीं छोड़ेगा तो लाठी तेरे माथे पर पड़ेगी, और तेरा माथा फट जाएगा। ग्वाले ने सोचा कि यह हृष्ट–पुष्ट आदमी है, लाठी इसके हाथ में है, अगर इसने मेरे माथे पर लाठी मार दी तो मैं तो मारा ही जाऊंगा, भैंस भी जाएगी। अतः उसने कुछ सोचकर कहा–"देखो भाई, तुम कह रहे हो कि भैंस दे दो तो भैंस तो मैं दे दूंगा लेकिन तुम जानते हो कि मैं खाली हाथ पर लौटूंगा तो अच्छा नहीं लगेगा इसलिए यदि परस्पर आदान–प्रदान हो जाता है तो मेरी हेठी भी नहीं होगी। अतः बदले में तुम भी मुझे कुछ दे दो ताकि मैं खाली हाथ घर नहीं जाऊं।" उस लठैत ने कहा कि मेरे पास तो सिर्फ लाठी है। ग्वाले ने कहा कि कोई बात नहीं, यही मुझे मंजूर है। लठैत ने लाठी दे दी और ग्वाले ने भैंस की रस्सी उस लठैत के हाथ में संभला दी। जैसे ही उसने भैंस की रस्सी लठैत के हाथ संभलाई और वह भैंस लेकर आगे बढ़ने लगा कि भैंस का मालिक ग्वाला लाठी फटकारते हुए बोला–"खबरदार, जो आगे बढ़ा ! छोड़ो भैंस यहां पर।" आश्चर्य से लठैत ने पूछा कि क्या बात हो गई ? ग्वाले ने कहा कि बात चली गई। जिसके हाथ में लाठी है भैंस उसी की है बस, उसने लाठी भी ले ली और भैंस भी ले ली।

आज उसी नीति पर चलने वाले, मेरे खयाल से, बहुत–से व्यक्ति मिलेंगे। मेरा है सो मेरा है और तेरा भी मेरा है। मेरा है सो तो मेरा है ही किन्तु तेरा भी मेरा है। अपने बुद्धि–बल से या चालाकी से कुछ हासिल कर सकते हैं। पर इस प्रकार के प्रयत्न करते हैं और इस प्रकार के प्रयत्न चलते हैं तो परस्पर विश्वास छिन्न हो जाता है। विश्वास टूटा नहीं कि सारी की सारी भावना ढह जाती है। परिवार और समाज का महल, हवेली, यह सब मात्र एक विश्वास के बल पर ही टिकी हुई है और विश्वास के धरातल पर सहिष्णुता, प्रामाणिकता, सहअस्तित्व के खम्भे लगे हुए हैं जिन पर हमारे समाज की हवेली की छत टिकी हुई है। किन्तु आज तो विश्वास का धरातल ही सही नहीं है, नींवे हिल रही है तो उसके साथ खम्भे, कैसे टिके रह पाएंगे ? सह–अस्तित्व की भावना समाप्त हो रही है, सहिष्णुता कपूर की तरह हवा हो रही है और प्रामाणिकता ? उसकी तो बात करनी ही व्यर्थ है। आज तो यह हो रहा है कि आपके सामने कुछ कह दिया, किन्तु जैसे आप पलटे कि आपकी पीठ पीछे न जाने आपके लिए क्या–क्या कहा जाने लगा। व्यक्ति के सामने तो गुण गाएंगे, किन्तु जैसे ही व्यक्ति ने पीठ फेरी कि उसकी निंदा चालू हो जाएगी। जब तक व्यक्ति जिंदा रहता है, व्यक्ति उसकी निन्दा कर लेता है, लेकिन जैसे ही व्यक्ति का मरण होता है,

उसका गुणगान होने लगता है। यह दुरंगी चाल हमारी आदत बन गई है, इसलिए यदि परिवार और समाज को व्यवस्थित रखना है तो सबसे पहले विश्वास की नींव को को व्यवस्थित तो करना पड़ेगा, विश्वास की नींवं यदि मजबूत हो गई हो तो हमारे पारस्परिक संबंधों को कोई हिला नहीं सकेगा।

विश्वास की नींवं कैसे हिल जाती है ? धरातल तो अपने–आप में मजबूत होता है, लेकिन आप जानते हैं कि बारूद की सुरंग यदि बिछा दी जाती है तो बड़े–बड़े पहाड़–चट्टानें भी हिल जाते हैं, फिर सामान्य जमीन और मकान की नींवं हिल जाए तो कोई बड़ी बात नहीं है, सामान्य जमीन में तो यदि चूहे भी लग जाते हैं और जगह–जगह बिल कर लेते हैं तो भी जमीन पोली हो जाती है। जिस जमीन में दीमक लग जाती है, उस जगह दीमक मिट्टी की बहुत बड़ी मीनार–सी खड़ी तो कर लेती है, किन्तु थोड़ा–सा धक्का लगते ही वह मीनार ढह जाती है, क्योंकि नींवं पोची हो जाती है। जिस जमीन में चूहे बिल कर लेते हैं वह पोली हो जाती है वैसे ही अविश्वास के चूहे आज हमारे अन्दर बिल बनाये हुए हैं इसलिए विश्वास ढह जाता है।

बंधुओं, व्यक्ति सहसा झगड़ा नहीं करता है। आप कहते हैं कि दो व्यक्ति होते हैं तो झगड़ा होता है, लेकिन अधिकांश झगड़े तीसरे व्यक्ति के कारण होते हैं। अधिकांश झगड़े त्रिकोणात्मक होते हैं। एक व्यक्ति दूसरे को चिंगारी लगाने वाला है, वह इधर भी चिंगारी लगाता है और उधर भी चिंगारी लगाता है। परिणामस्वरूप झगड़े खड़े हो जाते हैं और वैमनस्य पैदा हो जाता है।

हम 21वीं सदी में प्रवेश कर गए हैं। किन्तु यह आवश्यक है कि 21वीं सदी में सुसंस्कार लेकर आगे बढ़ें। यदि वैसे ही पुराने संस्कार हमारे भीतर भरे रहे तो हम कभी भी परिवार को शांति नहीं पहुंचा पाएंगे, न ही समाज में आनंद की बंशी के स्वर सुना पाएंगे–भले ही मंच पर खड़े होकर कह दें कि संगठन की वीणा बजने दें, मुझे मधुर–मधुर धुन सुनने दें। पर बजाओगे कैसे ? मंच पर हमारा कथन कुछ होता है, परन्तु मंच से नीचे उतरने के बाद क्रिया कुछ और ही हो जाती है।

जहाँ पारिवारिक–सामाजिक क्षेत्र में हम सहअस्तित्व और सहिष्णुता की बात कर रहे हैं। वहीं आज इससे विपरीत अहं तुष्टि का वातावरण नजर आता है। इसका मूल कारण है दायित्व व कर्तव्य के प्रति जो जागरूकता होनी चाहिए वह नहीं होकर अधिकार की बात होने लगी है।

एक परिवार में रहते हुए व्यक्ति यदि यह पूछे कि मैं घर में रह रहा

हू तो मेरे अधिकार क्या हैं ? तो वात वड़ी वेतुकी लगेगी। हकीकत में परिवार में अधिकार की वात नहीं होती, दायित्व एवं कर्तव्य की बात होनी चाहिये। देवरानी और जेठानी, जो घर में आती हैं, वहू वनकर, वे नहीं पूछती कि मेरे अधिकार क्या हैं। वस्तुतः परिवार में, समाज में जो अधिकार की वात करते हैं वह अपने–आप में एक वड़ी विडम्वना है। होना यह चाहिए कि परिवार में मेरे क्या दायित्व हैं, मेरे क्या कर्तव्य हैं। वैसे ही समाज के क्षेत्र में भी व्यक्ति को चिन्तन करना चाहिए कि समाज के प्रति मेरे क्या कर्तव्य हैं, मेरे क्या दायित्व हैं। आज का अध्यक्ष कल सामान्य व्यक्ति होता है। आज देश का राष्ट्रपति, वह भी कल सामान्य नागरिक हो जाएगा। कोई जरूरी नहीं कि लम्वे समय तक वही राष्ट्रपति बना रहे या वही व्यक्ति लम्वे समय तक प्रधानमंत्री वना रहे। जब तक पद पर हैं, विशिष्ट हैसियत में रह सकते हैं, लेकिन जैसे ही पद से नीचे उतरे, वे भी सामान्य व्यवित्त हो जाते हैं। प्रत्येक व्यक्ति को सोचना चाहिए कि पद अपने–आप में एक व्यवस्था है। इस पद के कारण से मेरा कद ऊँचा नहीं हो जाता है। कद ऊंचा होता है अपने व्यक्तित्व के कारण से तुम्हारे कर्तव्य क्या हैं, तुम्हारी कथनी कैसी है, तुम्हारी करनी कैसी है, समाज के प्रति अपने दायित्व को निभाने में अपने–आप में तुम तैयार हो या नहीं ? इन वातों से व्यक्त्वि या कद ऊंचा या नीचा होता है, पद–विशेष पर आसीन होने के कारण व्यक्ति की महिमा नहीं वढ़ जाती।

इस दृष्टि से हम यदि आचार्यदेव स्व. आचार्यश्री नानेश के आचार्यत्व पर, उनके प्रदेय पर विचार करें तो हम आश्चर्यचकित हो जाते हैं। आचार्य पद पर प्रतिष्ठित रहते हुए उनके मस्तिष्क में एक विचार उभरा कि कोई भी व्यक्ति मुझसे पूछ सकता है कि महाराज, हम परिवार और समाज में रह रहे हैं, हमें उपयुक्त व्यवहार हेतु मार्गदर्शन चाहिए। तव आचार्यदेव ने वहुत चिन्तन किया और चिन्तन के निष्कर्ष के रूप में हमारे साभने 'समताः दर्शन और व्यवहार' के सूत्र प्रतिपादित किये। परन्तु खेद का विषय है कि हम 'समताः दर्शन और व्यवहार' के सूत्रों को अपने जीवन मे उतार नहीं पा रहे हैं। उन सूत्रों के कितने आयाम हैं, ये सव वातें केवल कागजों, ओर कितावों में रह गई हैं। उन्हें जीवन का अंग वनाये विना हमारा कल्याण नहीं हो सकता। धर्मपाल आन्दोलन के साथ भी कुछ ऐसा ही हुआ। प्रारंभ में तो कई पदयात्राएं की गई और उनको सुसंस्कृत करने के प्रयत्न भी किये गये, किन्तु आज तो केवल कागजो में लम्वी–चौड़ी वातें हो रही हैं। औपचारिकताओं के निर्वाह और कागजी कार्यवाहियों से आप

अपने समाज को गति नहीं दे पाएंगे। ऐसी स्थिति में समाज कोई गति प्राप्त करने वाला भी नहीं है। समाज की गति में विश्वास की महती भूमिका होती है, किन्तु जहां विश्वास के भीतर चूहे उछलकूद मचा रहे हों तो वहां कभी शांति की श्वास ली नहीं जा सकती है और न वहां दायित्व का निर्वाह ही हो सकता है।

अविश्वास के धरातल पर बनाया गया समाज का संगठन कभी लम्बे समय तक टिक नहीं सकता है और न ही परिवार में उस प्रकार से बनाये गये ढांचे से शांति और आनन्द की लहर समाप्त हो सकती है।

इसलिए युवा पीढ़ी, को जिसे आने वाले समय में लम्बे समय तक परिवार, समाज और राष्ट्र के प्रति बड़े दायित्व का निर्वाह करना है, अभी से संभल जाना चाहिये। उसे सतर्क रहना चाहिए कि कहीं उसके भीतर अविश्वास के बीज नहीं पनपें। व्यक्ति अपनी स्वार्थपूर्ति के लिए किसी के भी कंधे पर बंदूक रख सकता है, इसलिये प्रत्येक व्यक्ति को सावधान रहना चाहिए। आज के युवा में निश्चित रूप से पर्याप्त तर्कशक्ति है, वह पढ़ा–लिखा भी है, किन्तु जो अनुभव होना चाहिए, वह उसको प्राप्त नहीं हो पाता है। उसका कारण है आज का युवा अपना भविष्य बनाने की चिन्ता में शिक्षा प्राप्त करने के लिए परिवार और समाज से एक प्रकार से कट–सा जाता है। उसका अनुभव होस्टल तक सीमित हो जाता है। होस्टल से निकलते ही शादी हो जाती है और फिर स्वतंत्र व्यापार के कारण परिवार से अलग रहने का अभ्यासी बन जाता है। जिससे परिवार के प्रति क्या दायित्व होना चाहिये, उस अनुभव से वह अनभिज्ञ रह जाता है। अनुभवहीन स्थितियों में व्यक्ति प्रतिक्रिया तो कर सकता है, पर आदर्श उपस्थित नहीं कर सकता।

आज विदेशों में क्या होता है ? सुना है मैंने कि जैसे ही लड़का जवान हो जाता है तो माता–पिता से स्वयं अलग हो जाता है और फिर माता–पिता के प्रति उसका कोई दायित्व नहीं। मां–बाप अगर वृद्ध हो गये तो लड़के को कोई लेना–देना नहीं, लड़का कोई सेवा नहीं करता और लड़के पर कोई दायित्व नहीं है। इस प्रकार की स्थिति विदेशों में बनी हुई है और यह हमारे यहां भी कुछ घर कर चुकी है। आगे आने वाले समय में यही स्थिति रही तो बड़ा भयावह दृश्य होगा। ऐसी स्थिति में यदि कहूं कि भारतीय संस्कृति लुप्त होती जा रही है तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। जहां पहले यह होता था कि मातृ देवो भवः, पितृ देवो भवः, अतिथि देवो भवः, वहां आज माता–पिता तो जहर के समान खारे लग रहे हैं। बहू स्वतंत्र विचारों की घर में आती है और सास कोई बात कह दे तो झट से

मुंह फूल जाएगा कि सासु जी ने मुझे टोक क्यों दिया, क्या मैं काम करना नहीं जानती हूं ? और घर में तूफान मच जाता है। मैं कहता हूं कि यह परस्पर सहिष्णुता की कमी है। जब युवक परिवार के साथ रहने की स्थिति में नहीं है तो परिवार के ढांचे को समझे कैसे ? सह–अस्तित्व को समझे कैसे ? सबका समान अस्तित्व है, वह समझकर चले तो झगड़ा नहीं होगा। यह सोचेगा कि मेरा अस्तित्व है तो दूसरे का अस्तित्व नकार कैसे सकता हूं। इसी प्रकार समाज की जाजम पर मैं अपना अस्तित्व कायम करना चाहता हूं तो दूसरे के अस्तित्व को समाप्त करके करना चाहूंगा तो मेरा अस्तित्व हो नहीं सकता और दूसरे के अस्तित्व को कायम रखकर किया तो एक तो कायम रहेगा ही और दूसरा भी कायम हो जाएगा। इससे इकाई दहाई में बदल जायेगी। एक और एक दो के बजाय ग्यारह हो जाएंगे। लेकिन जब तक हम ऐसी बातों को नहीं समझेंगे और केवल मन–मनोरंजन करते हुए चले जाएंगे तो इससे न तो परिवार की व्यवस्था सुलझेगी और न समाज सांस ले पायेगा। समाज को यदि करवट लेनी है तो युवा को जाग जाना होगा। यदि समय रहते युवा नहीं जागा तो बाद में केवल हाथ मलने के अलावा कुछ नहीं रहेगा। हमें समझने की आवश्यकता है।

बन्धुओं, जब हम भगवान् महावीर के जीवन पर दृष्टिपात करते हैं और उनके काल की परिस्थितियों पर विचार करते हैं तो हमारे सामने परिवार और समाज के सूत्र भी प्रस्तुत हो जाते हैं। तब संयुक्त परिवार की स्थितियां थी और संयुक्त परिवार एक मुखिया के नेतृत्व में गति करता था। तब यह नहीं था कि घर में जितने सदस्य हों, उतने घर के मुखिया बन जायें। आप जानते हैं कि यदि एक परिवार में अनेक मुखिया होते हैं तो वह परिवार कभी भी सुखी नहीं रह सकता। इसी प्रकार एक समाज में यदि अनेक नेता होते हैं तो वह भी समाज भी उन्नति नहीं कर सकता। कहा जाता है–एक मुखिया सब सुखिया, अनेक मुखिया सब दुखिया।

इसी प्रकार नितिकारों ने भी स्पष्ट कहा है–अनायकाः विनस्यन्ति –विनस्यन्ति बहु नायकाः, अर्थात् जिस संघ या जिस परिवार में कोई नायक नहीं होता है वह परिवार और वह संघ या समाज भी विघटित हो जाता है। किन्तु यदि नायक अधिक होते है तो वहां भी विघटन की स्थिति बन जाती है। परिवार और समाज में नायक की आवश्यकता होती है। वह नायक यदि एक होता है और एक के निर्देश में ही गति और प्रवृत्ति होती है तो सहज सुखद अवस्था बनी रहती है। परिवार में मुखिया या नायक की स्थिति बताने वाली एक प्रथा आज भी प्रचलित है। किसी घर के प्रमुख की

यदि मृत्यु हो जाती है तो पगड़ी का दस्तूर होता है। मेवाड़ और मारवाड़ में भी यह पगड़ी का दस्तूर होता है। पगड़ी का दस्तूर यानी जो वडा पुत्र होता है, पंच उसके माथे पर पगड़ी वांधते हैं। इस प्रकार पंच यह स्वीकार करते हैं कि सेठ के वाद अव उसका स्थान इस पुत्र ने लिया है। यह स्थिति केवल मोलिया बंधे रहने तक होती है। परन्तु मुख्य वात परिवार में अनुशासन की व्यवस्था जो होनी चाहिए, वह नहीं वन पाती। इस कारण से जो पारिवारिक सद्भाव बनना चाहिये वह वन नहीं पाता। वैसी स्थिति में शुद्ध सामायिक भी हो पाना कठिन है। यदि पारिवारिक वातावरण अनुशासनमय हो, सह अस्तित्व और सहिष्णुता के धरातल पर हो तो उपयुक्त वातावरण में सामायिक करने की स्थितियां सुनिश्चित की जा सकती हैं। तब उस प्रतिक्रिया से भी बचाव हो सकता है। जो सामायिक की पूरी प्रक्रिया को ही निष्फल कर देती है। उस स्थिति में सामायिक के उस फल की प्राप्ति की बात करने का भी कोई मतबल नहीं रह जाता जिसकी ओर भगवान महावीर ने संकेत किया है।

मैनें अपनी बात सामायिक की महिमा से प्रारंभ की थी। प्रसंगवश मैंने पारिवारिक और सामाजिक जीवन में दायित्वबोध को सुरक्षित रखने की आवश्यकता भी बताई, जिससे पारिवारिक और सामाजिक विघटन, अशांति, अव्यवस्था और असुरक्षा–भाव से रक्षा हो सके। मैंने इस संदर्भ में तीन सूत्रों –सहअस्तित्व, सहिष्णुता और प्रामाणिकता की पालना की बात भी कही थी जिससे सामायिक की सच्ची आराधना की स्थितियां बन सकें। समाज और परिवार में अनुशासन, व्यवस्था, पारस्परिक सद्भाव और संगठन में युवा वर्ग की महती भूमिका की बात तो मैं आपसे लगातार कहता रहा हूं। आप भी जानते हैं कि भविष्य की सारी व्यवस्था युवा वर्ग के कंधों पर ही आनी है। युवा वर्ग भी अपने दायित्व के प्रति जागरूक हुआ है, ऐसा मेरा विश्वास है। इसी क्रम में मैं चातुर्मासों और संघों की विनतियों की बात भी कहना चाहता हूँ जिससे साधु–साध्वी–श्रावक–श्राविका रूप तीर्थों के बीच घनिष्ठ संबंधों की महिमा भी एक बार पुनः आपके सम्मुख स्पष्ट हो सके।

बंधुओं, आप जानते हैं कि असली चातुर्मास तो संवत्सरी अर्थात् पर्युषण के दिन से लागू होता है और संवत्सरी के दिन जहां आराधना कर ले, उसके बाद 70 दिन तक वहां रुकना पड़ता है। पहले 50 दिन तो इधर–उधर व्यतीत किये जा सकते हैं परन्तु बाद के 70 दिन एक स्थान पर रुकना पड़ता है, इसलिए जघन्य चातुर्मास 70 दिन का हुआ। हम संवत्सरी के पहले आराधना करके पिछले 70 दिन का का क्या कर लेते हैं ? 'हुआ

संवत्सरी का पारना और छोड़ो साधा का वारना।' अब तो घूमो। जहां–जहां साधु–संत है वहां घूम–घूम कर दर्शन करो। घूमने वाले कम से कम यह जरूर करें कि जहां साधु–संतों के पास जायें वहां मेहमान बनकर नहीं जायें, वहां वे स्वधर्मी भाइयों के पास जाते हैं, उपासक बनकर जाते हैं। वहां अगर मेहमान बनकर रहें, बाराती बन कर रहें तो संतों के दर्शन का क्या लाभ है ? आप उपासक हैं तो संतों की उपासना करिये। जयपुर में आये हैं तो भलें हवामहल देख लें, कांच का महल देख लें, घूम लें, लेकिन यदि व्याख्यान नहीं सुना, खाये–पीये और रवाना हुए, न सामायिक, न माला, न प्रतिक्रमण, न ध्यानचर्या, तो फिर कैसी उपासना की ? यदि दर्शन के लिए पहुंते हैं, यदि उपासना के लिए पहुंचते हैं तो कम से कम एक संकल्प तो होना ही चाहिए कि जहां पर अवसर हो, वहां कम से कम एक सामायिक तो करें ही। कम से कम एक सामायिक का तो हमारे लिए प्रतिबन्ध अनिवार्य होना चाहिए। संघ जहां से रवाना होता है तो उनका भी दायित्व होना चाहिए कि उन्हें यहां कोई भीड़ इकठ्ठी नहीं करनी है; कोई जरूरी नहीं है कि पांच बसें लायें, किन्तु 50 भी आ रहे हैं तो वे सामायिक और संवर करने वाले हैं या नहीं, यह जरूर देखें। प्रत्येक व्यक्ति के साथ सामायिक के उपकरण होने चाहिए और जहां पर भी अवसर मिले, वहां पर सामायिक की आराधना होनी चाहिए। तब तो संघ होता है, नहीं तो टूर होता है। जहां टूर की अवस्था बन जाती है वह आत्म–कल्याण में सहायक नहीं होती, यह ध्यान में रखें। इसलिए संघ का दायित्व होता है कि साथ में आने वाले व्यक्तियों के पास व्यवस्था हो, यदि नहीं हो तो संघ यह व्यवस्था करके चले। जब आप खाने–पीने की सारी व्यवस्था करते हैं, आवश्यक नित्य–क्रियाओं के लिये गाड़ियां खड़ी भी कर देते हैं तो सामायिक की व्यवस्था का भी ध्यान रखें।

बन्धुओं, पूरे संघ के व्यक्ति जब एक साथ सामायिक में बैठते हैं तो लगता है कि एक धर्मसंघ हमारे सामने उपस्थित हुआ है। यह नहीं करेंगे तो आप अपनी भावी पीढ़ी को संस्कारित नहीं कर पायेंगे। बहुत संभव है कि आने वाले समय में धर्म और उपासना की भावना ही समाप्त हो जाये और लोग सैलानियों या टूरिस्टों की तरह दर्शनीय स्थानों के भ्रमण के लिये, संत–दर्शन और धर्म–साधना की ऐसी यात्राओं का आयोजन करने लगें। इस बात का ध्यान रखा जाना बहुत जरूरी है कि धर्मसंघों की ऐसी यात्रा में सम्मिलित होने वालों की मानसिकता पूरी तरह से धर्म–लाभ प्राप्त करने और संत–दर्शन की हो। यह सुनिश्चित करने का कठोर

दायित्व संघ के धर्मनिष्ठ पदाधिकारियों और सदस्यों का होगा। समाज में ऐसा वातावरण बने तथा श्रावक–श्राविकाएं ऐसी ही भावना से प्रेरित रहें, यह उनका स्वयं का भी दायित्व होना चाहिये। धर्माराधना के मार्ग में किसी भी तरह की शिथिलता सभी प्रयासों को निरर्थक कर देती है–यह समझ कर आप लोगों को धर्ममार्ग पर आगे बढ़ना चाहिये। तभी धर्म की आराधना सही अर्थों में हो पायेगी और धर्म मंगल का कारण बन सकेगा।

आप क्षमा याचना करने आए अतः मैं भी अपने मन की भावना से आपको परिचित करा देना अपना कर्तव्य समझता हूं। जब मैं मेवाड़ में था तो मैंने तीन बातें कही थीं। कम से कम वे तीन बातें हमारे जीवन में रहनी चाहिए। एक, रात्रि भोजन का त्याग रहे। दूसरी, सामायिक के साधन साथ रहे और सामायिक कर सकें तो अवश्य करें। लेकिन यदि सामायिक नहीं कर सकें तो तीसरी बात, कम से कम नवकार मंत्र की एक माला जरूर होनी चाहिए, मुंहपत्ती लगाकर। यह बात प्रत्येक श्रावक–श्राविका को ध्यान में रखने की आवश्यकता है।

मैं मानता हूं कि धर्म की आवाज आपके गहरे में उतरी है। इसका प्रमाण है कि अब तक आपने अपनी श्रद्धा और निष्ठा को मजबूत रखा है, किन्तु अब, इसके साथ में मैं चाहूंगा कि हमारे परिवार की अवस्था, हमारे समाज की अवस्था, वह भी सुदृढ़ बने। क्योंकि उनके प्रति हमारा गहन दायित्व है, कर्तव्य है। अतः एक–एक व्यक्ति अपने इस दायित्व का बोध करे, इस कर्तव्य का बोध करे। कोई भी व्यक्ति यह नहीं सोचे कि यह समाज करोड़पतियों से चलता है। करोड़पति अपने घर में हो सकता है, अपने व्यापार–क्षेत्र में हो सकता है, परन्तु समाज की जाजम पर एक करोड़पति भी उतना ही अधिकार रखने वाला होता है जितना एक अकिंचन सदस्य। इसलिए समाज के क्षेत्र में ऐसा भेदभाव उपस्थित नहीं करना चाहिए। हमें यह भी सोचना चाहिए कि अगर करोड़पति आ जाएगा तो ही समाज में चल पायेगा। करोड़पति से समाज चलने वाला नहीं होता। तलवारों से ही राज्य नहीं चलता। सुई भी अपनी जगह आवश्यक है। जहां सुई का काम हो, वहां तलवार कुछ नहीं कर सकती। रहीम कवि ने कहा है–'रहिमन देख बड़ेन को लघु न दीजिये डार जहां काम आवै सुई कहा करै तलवार।' जहां पैदल दौड़ने का काम है, वहां करोड़पति नहीं दौड़ पाएगा, उसका तो श्वास भर जाएगा। एक मंजिल से दूसरी मंजिल जाना हो तो वह लिफ्ट का सहारा देखेगा ! तब महत्त्व का काम एक अकिंचन ही कर पायेगा। ऐसे ही समाज के क्षेत्र में जो जाजम होती है उसमें रोड़पति

के लिए कोई ऊंचा स्थान नहीं होता है और करोड़पति के लिए जाजम कोई अलग बिछी भी नहीं होती है। गुरु और धर्म की नजर में तो सब बराबर होते हैं और आत्मसिद्धि प्राप्त करने का भी सभी को बराबर अधिकार होता है।

बंधुओं, श्रद्धा और दृढ़ निष्ठा आपमें कूट–कूट कर भरी है, आपकी श्रद्धा और निष्ठा मजबूत है, किन्तु ऐसा ही मजबूती का भाव परिवार के और समाज के क्षेत्र में आपको प्रदर्शित करना है। किसी अधिकार की मांग करना हमारा क्षेत्र नहीं है, किन्तु कर्तव्य करना हमारा क्षेत्र है। अधिकार दूसरों से प्राप्त होते हैं किन्तु कर्तव्य स्वयं का होता है। कोई अधिकार नहीं दें तो क्या आप अपने कर्तव्यों का निर्वहन नहीं करेंगे ? क्या आप अपने लाभ से वंचित रह जाएंगे ? आप अपना व्यपार करते हैं तो अपने लाभ के लिए करते हैं। परिवार और समाज के बीच आपका यही भाव होना चाहिए कि मैं अपने लाभ के लिए कर्तव्यों का निर्वाह करता हूं, अपनी आत्मा की शुद्धि के लिए अपना कर्तव्य करता हूं। किसी पर अपना प्रभाव डालने अथवा नाम के लिये मैंने समाज की सेवा नहीं की है। यही भावना युवावर्ग को भी अपने संस्कारों में लानी है। युवावर्ग को अपने समाज की, ऐसे समता समाज की नींवं रखनी है जो आचार्यदेव का स्वप्न रहा है।

भगवान् महावीर के छब्बीसौ वें वर्ष, आचार्यश्री हुक्मीचंदजी म.सा. के हुक्मीसंघ की स्थापना के 150वें वर्ष, आचार्यदेव के प्रथम पुण्य–स्मरण वर्ष के इस वर्ष में हमें कुछ करना है। आप एक संकल्प लीजिए कि आने वाले समय में हम समता समाज की रचना की दिशा में दृढ़तापूर्वक कदम बढायेंगे और उसकी स्थापना करेंगे। हम यह भी संकल्प करें कि जो कुछ होगा हमारी जाजम पर होगा, हमें एक–दूसरे के प्रति पूर्ण विश्वास होगा, एक–दूसरे के प्रति पूर्ण सहानुभूति होगी और हमारे मन में एक–दूसरे के प्रति पूर्ण सद्भाव पनपेगा। दूसरा, मेरे लिए भले कांटा बोये, मैं तो उसके लिए फूल ही बोऊंगा, ऐसा दृढ़ निश्चय आप अपने मन में करें। ऐसा नहीं कि महाराज के सामने तो आप हां कह दें, किन्तु बाद में भूल जायें। ऐसी अवस्था नहीं बने–यह ध्यान रखें। मैं खास करके आने वाले समय के लिए इन नौनिहालों, इन युवकों से कहना चाहूंगा कि वे आचार्यदेव के स्वप्न को साकार करने का संकल्प लें और समाज में अपनी रचनात्मक भूमिका अदा करके अपने जीवन को शांति और आनन्द से परिपूर्ण तो करें ही, एक सुखद मंगलमय भविष्य की आधार–शिला भी रखें।

☆☆☆

अभेद स्तुति से अन्तर ज्योति

आंखों का होना ही पर्याप्त नहीं है, आंखे मिल जाएँ किन्तु आंखों में रोशनी नहीं हो, आंखों में ज्योति को ग्रहण करने की क्षमता नहीं हो तो आंखें होते हुए भी व्यक्ति के सामने अंधकार है। वैसी अवस्था में आंख का मिलना या नहीं मिलना उसके लिए कोई अर्थ नहीं रखता है।

आंख के बिना बहुत–से व्यक्ति ज्योतिरहित होते हैं। बहुत–से प्राणियों के आंखें नहीं होती। जैसे तीन इंद्रिय वाले चींटी आदि प्राणी जिनके आंखें नहीं होती हैं। दो इंद्रियों वाले लट वगैरह, उनके भी आंखें नहीं होती हैं और एक इन्द्रिय वाले स्थावर प्राणी, उनके भी आंखे नहीं होती हैं। किन्तु चार इंद्रिय वालों के आंखे होती हैं, पांच इंद्रियां जिन्होंने प्राप्त की हैं उनके भी आंखें होती हैं। व्यवहार में आंखें प्राप्त होने पर व्यक्ति समझता है कि उसकी पुण्यवानी का उदय हुआ है। पांच इंद्रियां प्राप्त होना भी पुण्यवानी के योग से ही होता है, किन्तु पांच इंद्रिया प्राप्त होने के पश्चात् भी यदि उसे प्रकाश प्राप्त नहीं हो और अंधकार परिपूर्ण अवस्था में ही वह अपने जीवन को व्यतीत करें तो कहा जा सकता है कि व्यक्ति पांच इंद्रियों को तो प्राप्त कर चुका है, विकास की दृष्टि से विचार करें तो उसने इंद्रियों की प्राप्ति के रूप में सम्पूर्ण विकास तो कर लिया है, किंतु ऐसा विकास एक बार नहीं, दो बार नहीं, न जाने कितनी ही बार प्राप्त कर चुका है, परन्तु उपलब्धि नगण्य ही रही है। पंचेन्द्रियपणा कितनी बार प्राप्त कर लिया ? आप कहेंगे कि स्थावर में, एकेन्द्रिय में तो अनेक बार जन्म–मरण किये होंगे किन्तु पंचेन्द्रियपणा तो गिनती करें उतनी बार ही मिला होगा। परन्तु पांच इंद्रियाँ भी अनंतबार प्राप्त हुई हैं। अनेक बार पंचेन्द्रियपणे को प्राप्त हुए हैं, विकास की इस अवस्था को कई बार पूर्णतया प्राप्त कर चुके

हैं, परन्तु गिरे और एकदम से रसातल में चले गये। यह चक्कर चलता रहा। हमारे इस विकास की कोई भी अवस्था सफल नहीं हो पायी, न ही उसका लाभ मिल सका, क्योंकि प्रकाश प्राप्त नहीं हो पाया था और प्रकाश के विना आंखों का होना कोई मायने नहीं रखता है। ऐसे घटाटोप अंधकार में, जिसमें एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति का हाथ भी नहीं देख सके, अपने सामने के पदार्थ को भी अनुभव नहीं कर सके, ऐसे निबिड़ अंधकार में यदि आंख है भी तो वह क्या कर पायेगा ? सम्भव भी नहीं है कुछ भी कर पाना। क्योंकि आंख भी तभी काम करती है जब उजाला हो और उजाले के बिना आंख का होना, न होना, दोनों बराबर हैं क्योंकि हम कार्य कर ही नहीं सकते। अंधकार परिपूर्ण अवस्था में चाहे हमें ऊपरी आंखे मिल भी गई हों तव भी आंखों के रहते हुए भी हम अधंकार परिपूर्ण अवस्था में ही भटकते रहते हैं। आप शायद समझ गये होंगे कि मैं किस अंधकार की बात कर रहा हूं। कौनसा ऐसा घटाटोप अंधकार होता है ? वह अंधकार होता है अज्ञान का। जव तक वह नहीं छंटता है तब–तक चाहे हमने दो आंखें प्राप्त कर ली हों, तो भी उनसे गर्ज नहीं सरेगी। आंखों के साथ यदि आध्यात्मिक प्रकाश प्राप्त हो तो ही जीवन का विकास हो सकता है, तभी जीवन में आनंद की अवस्था प्राप्त हो सकती है।

वहुधा हम अज्ञान के अंधकार में भटकते हुए अपने–आप में मशगूल रहते हैं। और सोचते हैं कि हमने बहुत–कुछ प्राप्त कर लिया है, किन्तु जव तक हम अपने आध्यात्मिक प्रकाश को प्राप्त नहीं कर पाएंगे, जब तक हमारा जीवन अज्ञान के अंधकार से परिपूर्ण होता रहेगा और तब तक आनन्द, सुख अथवा शांति उससे प्राप्त नहीं की जा सकेगी। कैसे इस अज्ञान के अंधकार को दूर किया जाए ? अज्ञान है, वह अकेला नहीं है, अंधकार अकेला नहीं है। अमावस्या की रात्रि हो और घटारोप बादलों का भी संयोग मिले तो जैसा वह बन जाता है वैसे ही ज्ञानावरणीय कर्म का उदय होता है। वह अपने–आप में तो अज्ञान फैलाने वाला होता ही है किन्तु उसी के साथ मोहकर्म का यदि उदय भी वना हुआ है तो वह अंधकार घटाटोप वन जाता है। वह जीव वीतराग वाणी को सुन ही नहीं पाता है। वीतराग वाणी पर श्रद्धा होना तो दूर की वात है, वह तो जिनेश्वर देव की वाणी को सुन ही नहीं पाता है और सुने विना तत्त्व का निश्चय नही किया जा सकता। यथार्थ क्या है, यह नहीं जाना जा सकता।

जव व्यक्ति एक दिशानुगामी हो जाता है तव वह वेकल्पिक चिंतन कर ही नही पाता है। वह समझ ही नहीं पाता कि मेरा क्या सोच होना

चाहिए और सत्य क्या है, परिणामस्वरूप निष्कर्ष वह निकाल नहीं पाता है। किन्तु थोड़े–थोड़े बादल यदि हटते हुए चले जाएं और हल्के बादल रह जाएं तो उस समय कुछ प्रकाश प्राप्त होता है और ऐसे अवसर पर यह आत्मा कुछ सुनने को उत्कंठित होती है कि कम से कम सुनें तो सही कि बात क्या है और जब वह सुनता है तो उस सुनने से भ्रम के शेष बादल भी बिखर जाते हैं और ज्योति प्रकट हो जाती है। उस ज्योति को प्राप्त करके वह निहाल हो जाता है और उस समय उसे जो अनुभूति होती है वह अनिर्वचनीय होती है। जिसने अब तक अंधकार को ही देखा हो उसे यदि सामान्य–सा प्रकाश भी प्राप्त हो जाए तो वह सोचेगा–आह! ऐसा प्रकाश ! फिर प्रकाश की दिशा में ही उसकी गति होती है। वह सोचेगा, यदि इस प्रकार का प्रकाश है तो आगे इस प्रकाश की मात्रा अधिक होगी और तब वह अधिक से अधिक प्रकाश प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील बनते है। इस खोज, और इस अनुसंधान में जो आत्मा गतिशील हो जाता है वह एक दिन उस ज्योति को भी प्राप्त कर लेता है जिस ज्योति की प्राप्ति की उत्कंठा उसके भीतर जाग्रत हुई थी और यही ज्योति है जिसको हम केवलज्ञान की ज्योति कहते है। इसके प्रकट होने पर पूर्ण ज्योति का स्वरूप भी उसके भीतर उजागर हो जाता है। किन्तु यह सब इतना सहज नहीं है। कहना जितना सरल है, सहज साधना उससे कहीं अधिक कठिन है। वैसे यदि देखें तो इसके लिये एक क्षण पर्याप्त होता है किन्तु उस क्षण को प्राप्त करने के लिए पहले की जो सारी प्रक्रियाएं हैं वे अत्यंत जटिल हैं। इस अवस्था को कैसे प्राप्त किया जाए, क्योंकि ऐसा भी हो सकता है कि आंखें तो प्राप्त हुई हों किन्तु आंखों में मोतियाबिंद आ गया हो तो फिर अंधेरे का अंधेरा ही रह जायेगा। वैसे ही यदि हमें ज्योति प्राप्त भी होती है, किन्तु फिर भी हमारी भावनाएं लड़खड़ाने लगती हैं तो ऐसे समय में क्या किया जाए ? कभी आंख कमजोर होती है और डाक्टर को दिखाने के लिए पहुंचते हैं तो डाक्टर कहता है कि आपको चश्मा लगाना पड़ेगा ! चश्मे के विना काम नहीं चलेगा। कदाचित बिना चश्मे के भी काम–चल जाए आंख में कुछ गड़बड़ हो और डाक्टर दवा लेकर कहे कि दिन में दो बार या तीन बार इस दवा का प्रयोग करना। जैसे–जैसे उस दवा का प्रयोग करेंगे तो धीरे–धीरे जो जाले जम गये थे या जो बीमारी आ गई थी वह वीमारी धीरे–धीरे समाप्त हो जाएगी और आपकी आंखों की रोशनी पूर्ववत् वन जायेगी। उस दवा का सेवन यदि व्यक्ति करता है, आंख में डालता है तो सम्भव है कि उसको पुनः वैसी ज्योति प्राप्त हो जाए। पर ध्यान रखें कि

डॉक्टर की दवा में तो कोई नुक्स भी रह सकता है, कभी उसके साइड इफेक्ट्स भी हो सकते हैं किन्तु तीर्थकर देवों की दवा में कभी कोई नुक्स नहीं होता उसमें साइड़ इफेक्ट्स भी कभी नहीं होते।

तीर्थकर देव प्रभु महावीर से पूछा गया, "भगवन् यदि किसी व्यक्ति के अन्तर की ज्योति प्रकट तो हुई हो किन्तु मोहकर्म के मेघाच्छादन से वह ज्योति यदि धुंधली पड़ रही हो तो ऐसे समय में उस साधक को क्या करना चाहिए ? "प्रभु महावीर ने उत्तर दिया– उसे 24 तीर्थकरों की स्तुति करनी चाहिए।" किन्तु स्तुति कैसे करे ? स्तुति करने का तरीका क्या हो? स्तुति वचन से हम उच्चारित तो जरूर कर लेते हैं किन्तु स्तुति के भेद को नहीं जान पाते हैं। स्तुति के सही स्वरूप को नहीं जान पाते हैं। पहले तो हम यह विचार करें कि स्तुति किसकी की जाय। ऋषभदेव या ऋषभदेव से लेकर सभी 24 तीर्थकरों की ? इन तीर्थंकरों में से हम यदि किसी का नाम लेकर स्तुति करते हैं तो उसके पीछे हमारा भाव क्या है ? हम ऋषभ को क्या समझ रहे हैं ? महावीर को क्या समझ रहे हैं ? अतः स्तुति के स्वरूप और प्रकृति को भी समझें।

ज्ञानियों ने भेद किया है कि एक स्तुति भेदपूर्वक होती है और एक अभेदपूर्वक होती है। भेद और अभेद को भी समझें। अभेद में हम सबको एक साथ ग्रहण कर लेते हैं। 'णमो अरिहंताणं। णमो सिद्धांण।' यह अभेद स्तुति है। इसमें सभी को एक साथ सम्मिलित कर लिया गया है। परन्तु यदि हम ऋषभदेव, अजितनाथ, सम्भवनाथ, इस प्रकार से अलग–अलग नामपूर्वक स्तुति करते हैं तो वह भेदपूर्वक अवस्था हुई। इसके अतिरिक्त दूसरा भी तरीका बतलाया गया है कि नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव, इनमें भी भेद और अभेद अवस्थाएं होती हैं। इनमें भेद और अभेद कैसे ? ऐसे कि जो अर्थ, क्रियाकारित्व रखने वाले हैं, उस प्रकार के यथार्थ गुणों से जो युक्त हैं, उनकी जो स्तुति की जाती है वह अभेद स्तुति होती है और जिनमें उस प्रकार की अर्थ–क्रियाकारित्व नहीं है, जिनमें उस प्रकार के गुणों का समावेश नही है, किंतु केवल नाममात्र है, वह भेद स्तुति कहलाती है। जैसे भगवान् महावीर नहीं हैं किन्तु किसी व्यक्ति का नाम महावीर है और उस महावीर की स्तुति की जाय तो वह भेद स्तुति कहलायेगी, क्योंकि उसमें उस प्रकार के गुणों का समावेश नहीं हैं, परन्तु भगवान् महावीर की स्तुति, यदि हम प्रभु महावीर का स्मरण करके कर रहे हैं तो वह स्तुति अभेद स्तुति कहलायेगी। इसलिए इन स्थितियों का बारीकी से अध्ययन करना आवश्यक है कि हम जो स्तुति कर रहे हैं वह नाम की, स्थापना की या द्रव्य की स्तुति

तो नहीं कर रहे हैं। तीर्थंकर जब तक गृहस्थ अवस्था में रहते हैं, वे द्रव्य तीर्थंकर कहलाते हैं, उस समय साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका उनको नमस्कार नहीं करते हैं, उनको वन्दना नहीं करते हैं। श्रावक-श्राविका पारिवारिक या व्यावहारिक रूप से एक-दूसरे से नमस्कार का आदान-प्रदान करें, एक दूसरे को नमस्कार करें तो वह अलग बात है, किन्तु यह समझकर कि ये हमारे होने वाले भावी तीर्थंकर हैं, भावी तीर्थंकर के रूप में उनको वन्दना, नमस्कार नहीं करते हैं। क्योंकि अभी वे भेद रूप से तीर्थंकर हैं इसलिये अभी उनकी वन्दना भेद रूप से कहलायेगी, वह अभेद नहीं है। जो गुण महावीर के होने चाहिए, वे महावीर के गुण, अरिहंतो के गुण, वे अभी इनमें मौजूद नहीं है इसलिए उनको की जाने वाली वन्दना, उनकी की जाने वाली स्तुति, वह स्तुति अभेद नहीं कहलायेगी वह स्तुति भेद कहलायेगी और भेदपूर्वक की गई स्तुति हमारे जीवन को उन्नत नहीं बना सकती। किसी का महावीर नाम तो नहीं, किन्तु महावीर के आकार की कोई मूर्ति बना दी, प्रतिमा बना दी और उसकी यदि स्तुति की जाय तो वह भी भेद स्तुति कहलाती है और उस प्रकार की भेद स्तुति आत्मकल्याण में सहायक नहीं हो सकती है। जो भावपूर्वक और अभेद स्तुति होती है वही स्तुति मुख्य रूप से हमारी आत्मा को निर्मल बनाने वाली होती है और वही हमारे भीतर की ज्योति पर जो धुंधलापन आ रहा है, उस धुंधलेपन को दूर करने वाली बन सकती है। यदि इसका विज्ञान नहीं है और हमने किसी भी प्रकार की स्तुति करने का प्रयत्न कर लिया और फिर भी हमारी आत्मा की [illegible] दूर नहीं हुई, हमारी ज्योति की धूमिलता समाप्त नहीं हुई तो [illegible] है हम विचार करने लग जायें कि हमने तो इतनी बार स्तुति कर ली, फिर भी हमारी ज्योति धूमिल होने से बच नहीं सकी, तो स्तुति निष्फल तो [illegible]

[illegible]

प्राप्त कर रहे हैं। किन्तु उसमें हम कभी–कभी संशयशील हो सकते हैं। धर्मास्तिकाय दिखती नहीं है, अधर्मास्तिकाय का नामोनिशान नहीं है, पर कई भाई ऐसे होते हैं कि उनसे यदि पूछा जाए कि धर्मास्तिकाय क्या है तो कहेंगे महाराज, सामायिक करते हैं वह धर्मास्तिकाय है, पौषध करते हैं वह धर्मास्तिकाय, है। और जो पाप करते हैं, झूठ बोलते हैं, हिंसा करते हैं वह अधर्मास्तिकाय आकाशस्तिकाय है ? आप कहोगे ऐसा नहीं है। जो जानकार हैं वे कह देंगे, ऐसा नहीं समझते हैं, किन्तु ऐसा समझने वालों का भी अभाव नहीं है। आप यह मत समझ लेना कि दुनिया में वैसे कोई नहीं है। बहुत –से व्यक्ति समझ ही नहीं पाते हैं। आज विज्ञान के धरातल पर हम अपने तत्वों की सिद्धि करने में लगे हुए हैं, किन्तु वहां भी भ्रामक स्थिति बन जाती है। आज के वैज्ञानिक प्रत्यक्ष को महत्त्व देते हैं और आपके सामने वे प्रयोगों के माध्यम से प्रयोगशालाओं में सिद्ध करके बतलाते हैं। किन्तु प्रयोगशाला में सिद्ध किये जाने वाले वे तत्त्व अपने आप में कितने सिद्ध हो पाते हैं, यह देखने की बात है। उन्होंने प्रयोगशाला की सिद्धि में ही एक यह बात बतलायी है कि उन्होंने परमाणु को देख लिया है और उन्होंने उस परमाणु की व्याख्या भी की कि 'जो मेटल का अविभाज्य अंश होता है उसको परमाणु कहते हैं।' अर्थात् परमाणु पुद्गल का ऐसा निरंश अंश है जिसके दो टुकड़े न किए जा सकें। वह कहने लगे कि हमने परमाणु को देख लिया है, जबकि तीर्थंकर देवों की वाणी के आधार पर ऐसे छद्मस्थ वे परमाणु को देख नहीं पाएंगे। हलचल मच गयी, लोग कहने लगे, महाराज, वैज्ञानिकों ने परमाणु तक की खोज कर ली है और वे बतलाते हैं कि यह अंतिम अंश है, निरंश है, परमाणु के दो टुकड़े नहीं किये जा सकते ! किन्तु वे वैज्ञानिक जब गहराई में उतरे तो उन्होंने उस परमाणु को भी खंडित कर दिया ! इलेक्ट्रोन, प्रोट्रोन, न्यूट्रोन, कितने टुकड़े कर दिये पर व्याख्या आज भी वही चल रही है। परमाणु किसे कहना चाहिए, जिसके एक से दो टुकड़े नहीं हो वह परमाणु। कह रहे हैं जिसके दो टुकड़े नहीं होते हैं वह परमाणु है। अविभाज्य अंश परमाणु है, किन्तु वे स्वयं ही उसके टुकड़े कर रहे हैं, किन्तु जैन सिद्धान्त और तीर्थंकर देवों की वाणी में विश्वास रखने वाले, क्या कभी कह सकते हैं कि उन्होंने परमाणु को देख लिया है, उन्होंने परमाणु के टुकड़े कर दिये हैं ? क्या यह संभव है ? नहीं। आज के वैज्ञानिकों ने कहा कि टुकड़े नहीं होते और टुकडे कर दिये। उनकी भाषा में इस प्रकार का अंतर हो सकता है, किन्तु तीर्थंकर देवों की

भाषा में ऐसा अंतर नहीं होगा और यदि ऐसा अंतर होगा तो वह तीर्थंकर देवों की वाणी नहीं हो सकती। तीर्थंकर देवों की वाणी यथार्थ होती है—तहमेव सत्य होती है। जैसा उन्होंने देखा है, अनुभव किया है, वैसी ही उनकी वाणी में व्यक्त होता है। वैज्ञानिक उसको आज के उपकरणों से देखते हैं, किन्तु तीर्थंकर देव अपने अन्तर के उपकरण से देखते हैं और अन्तर के उपकरण से जो बोध प्राप्त होता है जो ज्ञान प्राप्त होता है, वह बाहर के उपकरणों से हमें प्राप्त नहीं हो सकता, क्योंकि उनकी शक्ति की सीमा है, चाहे वह माइक्रोस्कोप ही क्यों न हो। एक माइक्रोस्कोप थोड़ी दूर तक देखकर विराम ले लेता है। एक माइक्रोस्कोप और अधिक दूरी तक या और बड़े आकार में देखने की क्षमता रख सकता है, पर सारे बाह्य पदार्थों को देखने में सक्षम नहीं होता है।

यहां जवाहरनगर में विज्ञान के एक प्रोफेसर हैं, वे उपस्थित हुए और उन्होंने कहा, महाराज, एक बॉल के अनेक टुकड़े किये जा सकते हैं और एक—एक टुकड़े को दस हजार गुना मोटा करके देखा भी जा सकता है, किन्तु उसके लिए कई प्रक्रियाएं करनी पड़ती हैं और उसमें कई प्रकार के साधन, कैमिकल्स आदि उपयोग में लेने पड़ते हैं, परन्तु तब एक टुकड़े को हजार गुना, और उससे भी आगे जाकर 10 हजार गुना तक बढ़ाकर बतलाया जा सकता है। यह आज के विज्ञान और आज के उपलब्ध साधनों के कारण संभव हुआ है। किन्तु यदि कम पावर का साधन है तो उसमें अधिक बड़ा करके नहीं देखा जा सकता। यदि सामान्य शक्ति का माइक्रोस्कोप है तो उससे सामान्य पदार्थ उसकी शक्ति—भर के विस्तार में देखा जा सकता है, किन्तु अधिक बारीक पदार्थ को देखने के लिए, उसकी बारीकी का ज्ञान करने के लिए, उसमें दूसरे जो बारीक पदार्थ हैं, उनको देखने में सक्षम होने के लिये अधिक शक्तिशाली माइक्रोस्कोप का उपयोग किया जाता है और उसके साथ कैमिकलों का प्रयोग भी किया जाता है। जैसे वहां अलग—अलग साधन हैं वैसे ही हमारे भीतर भी मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यायज्ञान और केवलज्ञान, के माईक्रोस्कोप हैं। श्रुतज्ञान के द्वारा कितना देख सकता है और अवधिज्ञान से कितना जान सकते है, इसकी विवेचना उपलब्ध है। केवलज्ञान पदार्थ के अंत को छूता है, वह एक—एक कण को जानने में समर्थ है !

बंधुओ ! यह ज्योति जिनको प्राप्त हो गई और उन्होंने जो बातें ई हैं उनके विषय में हमें कहीं भी शंका करने की, या संशय करने का

स्थान नही रह जाता है। इस प्रकार का दृढ़ विश्वास बनता है, परन्तु वह विश्वास तब बनता है जब हम तीर्थंकर देवों की स्तुति करते हैं और जब वह स्तुति भावपूर्वक होती है और अभेदपूर्वक होती है। ऐसी स्तुति से वह आवरण जो, इस ज्योति पर पड़ा हुआ है और इस ज्योति को जो धूमिल कर रहा है वह आवरण उठ जाता है। वह ज्योति अपनी पूर्णता में प्रकट हो जाती है। आप जानते हैं कि यदि पानी में कचरा पड़ा हुआ है, और बार–बार उसमें लोटा डाला जाए तो कचरा उठता और लोटे में आता रहेगा, परन्तु उसी पानी में यदि थोड़ी–सी फिटकरी डाल दी जाए और फिर पानी को निथार कर अलग कर लिया जाए तो पानी का कचरा उस पानी से अलग हो जाता है और उसके बाद लोटा डाला जाए तो कचरा नहीं उठता। वैसे ही हमने यदि तीर्थंकर देवों की उस वाणी की फिटकरी को अपने ज्योति –स्वरूप पानी में फैला दिया है और सारी गंदगी को अलग कर दिया है तो फिर उसके पश्चात् मलिनता का कोई प्रसंग उपस्थित ही नहीं होता, फिर उस ज्योति में कितने ही लोटे डाले जायं, वह ज्योति विचलित नहीं होगी, उसमें कहीं पर भी हिलने–डुलने की बात नहीं आएगी, डवांडोल होने की बात नहीं आएगी, बल्कि उसके भीतर दृढ़ता तथा स्थिरता होगी और ऐसा विश्वास होगा कि तीर्थंकर देवों ने जो बात कही है, उसमें कहीं भी मीन–मेख नहीं है, उसमें कहीं पर कोई त्रुटि की संभावना नहीं है।

बंधुओं, इस प्रकार का विश्वास जब जाग्रत होता है तब कहीं जाकर आध्यात्मिक साधना में प्रवेश होता है। उसके बिना हम आध्यात्मिक साधना कैसे कर पाएंगे ? आध्यात्मिक साधना के लिए जब हमारी भूमिका दृढ़ हो जाती है तो आगे की साधना स्वतः ही फलीभूत होने लगती है। प्रभु महावीर के जीवन–प्रसंगों को भी यदि हम अपने सामने लें तो वे भी उनकी स्तुति का ही प्रकार हैं और ऐसी स्तुति भी भेद नही, अभेद स्तुतियां हैं। क्योंकि वे भावपूर्वक की जाती हैं और उनके माध्यम से उन महावीर की स्तुति की जा रही होती है, जिन महावीर ने अपने भीतर उसी ज्योति को प्रकट किया और उसी ज्योति के फलस्वरूप जिन्होंने धर्मास्तिकाय अधर्मास्तिकाय, और आकाशास्तिकाय का शुद्ध स्वरूप जाना और बताया। धर्म करने वाला धर्मास्तिकाय नहीं है, अधर्म करने वाला अधर्मास्तिकाय नहीं है। धर्मास्तिकाय वह है जो जीव और पुद्गल को चलाने में सहायक है, अधर्मास्तिकाय उन्हें ठहरने में सहायक होता है और आकाशास्तिकाय

स्थान देने में सहायक होता है। तब सच्चे ज्ञान का स्वरूप अपने–आप में बनता है। सुनी हुई बात के आधार पर नहीं, किन्तु अपने ज्ञान से, अपने माइक्रोस्कोप से वे देख लेते हैं और देखने के पश्चात् जो अनुभूति की है उसी को दूसरों के समक्ष प्रकट करते हैं।

बन्धुओ ! यदि हम वैज्ञानिकों की बात पर विश्वास कर सकते हैं तो भगवान महावीर की बात पर विश्वास नहीं करने का कोई प्रसंग नहीं है। ऐसे तीर्थंकर देवों की हम अभेद स्तुति कर अन्तर्ज्योति को जाग्रत करने का लक्ष्य बनावें।

☆☆☆

11.9.2000

श्री राम उवाच की प्रकाशित श्रृंखला